बाल निर्माण की कहानियाँ

८



बाल निर्माण की कहानियाँ

(भाग-१)



लेखिका

डॉ० आशा 'सरसिज'



प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००



पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : ११.०० रुपये

विषय सूची

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

सूझ-बूझ का काम

तारा मेंढ़की का छोटा-सा परिवार था। वह और उसके दो बच्चे बस। बहुत दिन पहले उसके पति को किसी साँप ने खा लिया था। पति के मरते समय उसके बच्चे बहुत छोटे-छोटे थे। तारा ने बड़े धैर्य और लगन से पाल-पोसकर उन्हें बड़ा किया था। स्वयं कष्ट झेले थे, पर बच्चों को किसी प्रकार से पिता का अभाव अनुभव न होने दिया था।

तारा समझदार माँ थी। वह जानती थी कि बच्चों की सबसे बडी निर्माता माँ ही होती है। उसने अपने बच्चों में प्रारंभ से ही अच्छी आदतें डाली थीं। उन्हें अच्छी बातें सिखलाई थीं। तारा के दोनों बच्चे पप्पू और गप्पू होनहार ही थे। वे माँ की सीख के अनुसार चलते, बड़ों का कहना मानते, उनका सम्मान करते। सारे ही पड़ौसी उन्हें प्यार करते थे।

पप्पू-गप्पू थोड़ा बड़े हुए तो तारा उन्हें विधिवत् प्रशिक्षण देने लगी—तैरने, कूदने, गाने, पढ़ने और शिकार करने का। इन सबमें उसका लगभग आधा दिन ही बीत जाता था। एक दिन तारा ने सोचा कि जितनी देर में केवल अपने बच्चों को पढ़ाती हूँ, उतनी देर में पड़ौस के दूसरे बच्चों को इनके साथ भी पढ़ा सकती हूँ। मेरे तो दो बच्चे हैं, काम भी मेरे पास कम है। पड़ौसियों के तो सात-आठ से कम बच्चे किसी के हैं ही नहीं। घर में सारे दिन चिल्लपों मची रहती है। बेचारी किसी भी बच्चे की ढंग से देखरेख नहीं कर पातीं, अच्छा है कि मुझसे कुछ लाभ उन्हें मिले।

शाम को जब पड़ौसिनें घर के काम से निबटकर दो पल सुस्ताने तालाब के किनारे बैठीं तो तारा बोली—"बहिनो ! पप्पू-गप्पू को तो मैं पढ़ाती हूँ। तुम चाहो तो अपने-अपने बच्चों को भी सुबह मेरे पास पढ़ने भेज दिया करो।"

"हाँ बहिन ! अच्छा है कि तुम्हारे पास रहकर कुछ तो सीखेंगे। हमें तो इतने बड़े कुटुंब के धंधों से ही फुरसत नहीं मिल पाती।" एक पड़ौसिन बोली।

दूसरे दिन से दो-तीन पड़ौसियों के बच्चे तारा के घर पढ़ने आ गए। तारा बड़े प्यार से बच्चों को पढ़ाती थी। बच्चे घर जाकर तारा मौसी की बड़ी प्रशंसा करते। कुछ अपने बच्चों से तारीफ सुनकर, कुछ औरों की देखा-देखी अब सभी मेंढ़कियों ने अपने बच्चे उसके यहाँ भेजना प्रारंभ कर दिया। तारा के यहाँ पढ़ने योग्य बच्चों की इतनी भीड़ जमा हो गई कि घर में बैठने-बिठाने की जगह भी न रही। अब वह तालाब के किनारे, पेड़ों की छाया में, खुली जगह में कक्षा लेने लगी। अब उसे दो पल सुस्ताने की, खाना ढूँढ़ने-खाने की भी फुरसत न मिलती।

तारा की एक पड़ौसिन बड़ी समझदार थी। उसकी नजर से यह बात छिपी न रह सकी। एक दिन वह तारा के पास आई और बोली—"दीदी ! तुम्हारी शिक्षा से हमारे बच्चे दिन पर दिन ही सुधरते जा रहे हैं। क्यों न तुम विधिवत् एक स्कूल ही खोल लो। तुम हमारे बच्चों को पढ़ाने-सिखाने का, उन्हें अच्छा बनाने का उत्तरदायित्व लो। हम सब खाने-पीने की जरूरत की दूसरी चीजें तुम्हें लाकर दे दिया करेंगे। इससे बिना किसी तनाव और चिंता के तुम अपना काम कर पाओगी।"

तारा को इसमें भला क्या आपत्ति हो सकती थी ? उसने स्वीकृति में अपनी गर्दन हिला दी। बस फिर क्या था ? वह पड़ौसिन छलांग लगा-लगाकर सभी को सूचना दे आई। दूसरे दिन प्रातःकाल ही एक नए स्कूल का उद्घाटन हो गया। उसका नाम रखा गया—'तारा विद्यापीठ।' उद्घाटन समारोह में मेंढ़क-मेंढ़कियों ने खुशी में जोर-जोर से टर्र-टर्र करके मंगल-गीत गाए। मेंढ़कों के बच्चों ने फुदक-फुदककर सामूहिक नृत्य किया।

दूसरे ही दिन से "तारा विद्यापीठ" में विधिवत् पढ़ाई शुरू हो गई। बच्चे अधिक थे, इसलिए तारा ने पढ़ाने के लिए दो मेंढ़कियों

की नियुक्ति और कर ली थी। अब तारा आचार्याजी बन गई थी। सभी उसे "बड़ी दीदी" कहते थे और उसका बड़ा सम्मान-आदर करते थे।

'तारा विद्यापीठ' में न केवल पढ़ाई अच्छी होती थी, अपितु वहाँ अनुशासन और सदाचार पर बल दिया जाता था। न केवल सदाचार सिखाया जाता था, अपितु स्वावलंबन, साहस, संगठन, आत्मरक्षा पर भी बल दिया जाता था। तारा कहती कि जितनी आवश्यकता बच्चों को सदाचारी और ज्ञानी बनाने की है उतनी ही आवश्यकता इस बात की भी है कि उन्हें इस योग्य बनाया जाए कि वे अनीति-अत्याचार से संघर्ष कर सकें। यही कारण था कि तारा विद्यापीठ के सारे ही शिक्षार्थी बड़े साहसी और बड़े ही सूझ-बूझ वाले थे।

एक दिन की बात है। तारा, दोनों शिक्षिकाएँ और मेंढकों के बच्चे पिकनिक के लिए पास के जंगल में गए। सुहावना मौसम था, रिमझिम-रिमझिम बादल बरस रहे थे। सभी ने खूब मौज-मस्ती की। लौटते समय वे छोटे-छोटे समूहों में बँट गए थे। दो बच्चे सबसे पीछे रह गए थे। वे रास्ते-भर बड़ी उछल-कूद करते आ रहे थे। वे थोड़ी देर खूब तेजी से दौड़ते तो कुछ देर चुपचाप रास्ते में बैठ जाते। जब उनके साथी आगे बढ़ जाते तब फिर तेजी से उछल कर वे उनसे आगे बढ़ने की कोशिश करते। बड़ी देर से वे यही खेल कर रहे थे। शिक्षिकाओं ने ऐसा करने के लिए उन्हें मना भी किया था, पर बच्चे अपनी ही धुन में थे।

सहसा ही एक घटना घटी। दोनों बच्चे अपने साथियों से बहुत पीछे रह गए थे। एक साँप बड़ी देर से इसी ताड़ में था, वह सामने आया और बोला—"बेटो ! कहाँ जा रहे हो ?"

"अपने घर, पास के जंगल में।" बच्चे बोले।

"ओह ! अभी तो काफी दिन बाकी है। जाने की इतनी जल्दी भी क्या है ? तुम दोनों ही हमारे मेहमान हो। हमारे इस जंगल में बहुत अच्छी-अच्छी चीजें हैं। उन्हें खाए बिना तुम्हें जाने न देंगे।" साँप कहने लगा।

बच्चों के मन में अब यह बात आने लगी थी कि कहीं मीठी-मीठी बात बनाकर यह हमें ही न गटक जाए। वे मन ही मन सोचने लगे कि कैसे इस दुष्ट से छुटकारा पाया जाए ? शारीरिक बल में तो वे उससे कम थे। वे कोई युक्ति सोचने लगे। सहसा ही एक बच्चे ने दूसरे को आँख झपकाकर कुछ इशारा किया। फिर वह साँप से बोला—"वाह ताऊजी ! आज तो बिना खाए-पिए हम अपने घर क्यों जाएँगे ? हम दोनों तो आपके इस जंगल की अच्छी-स्वादिष्ट चीजें खाकर जाएँगे।"

साँप मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। आज तो उसके यहाँ दावत थी। वह सोच रहा था कि दावत में मेंढ़कों का माँस खाकर साँप बड़े प्रसन्न होंगे। कुछ दूर जाने के बाद ही सहसा रुक गए। एक बच्चा कहने लगा—"ताऊजी ! कोई भी अच्छी चीज अकेले-अकेले नहीं खानी चाहिए। ऐसा हमारी बड़ी दीदी सदैव कहती रहती हैं। हमारे कुछ सबसे पक्के दोस्त हैं। वे भी हमारे साथ चलते तो बड़ा अच्छा लगता।"

"अब तो वे सब चले गए। उन्हें लेकर कल अवश्य आ जाना।" साँप बच्चों से बोला।

"कल तो पता नहीं हमारी माँ ने यहाँ आने की आज्ञा दी भी या नहीं। वे हमसे कुछ ही आगे थे, अभी थोड़ी ही दूर गए होंगे। अगर आप कहें तो हम दौड़ लगाकर उन्हें वापिस ले आएँ।" मेंढ़क का बच्चा बोला।

"कितने मित्र हैं तुम्हारे ?" साँप ने पूछा।

"आठ।" उत्तर मिला। यह सुनकर साँप के मुँह में पानी भर आया। "वाह ! आज तो दावत में मजा आ जाएगा।" उसने मन ही फिर वह जोर से बोला—"जाओ बच्चो ! जरा जल्दी आना, तब तक में यहीं बैठा सुस्ताता हूँ।"

दोनों बच्चे तेजी से छलांग लगाकर साँप की आँखों से ओझल हो गए। हाँफते-हाँफते वे विद्यालय पहुँचे, वहाँ उन्हीं की खोज हो रही थी। उन्होंने बड़ी दीदी को जाकर सारी बात बताई। उनकी बात

सुनकर तारा बड़ी प्रसन्न हुई। बोली—"बच्चो ! तुम संकट में पड़कर भी घबराए नहीं। तुमने धैर्य और बुद्धिमानी से काम लिया। इसीलिए तुम बचकर ही यहाँ तक आ गए, नहीं तो तुम दोनों का पता भी न लगता। साहस और विवेक से काम लेकर ही समस्त बड़ी से बड़ी कठिनाइयों पर विजय पाई जा सकती है—इस बात को सदैव ध्यान रखना।"

दूसरे दिन एक समारोह में दोनों बच्चों को पुरस्कार दिया गया। तारा ने एक छोटा-सा भाषण देते हुए कहा—"बच्चो ! संसार में छल-कपट और धूर्तता अपनाने वालों की भी कमी नहीं है। बुद्धिमानी इसमें नहीं है कि हम अपने सीधेपन से उनके चंगुल में फँस जाएँ। ऐसा सीधापन तो मूर्खता ही है। बुद्धिमानी इसी बात में है कि उनकी चाल समझी जाए और उनके छल को सफल न होने दें। बुद्धि से या पराक्रम से हम उनकी कपट भरी योजना से बच जाएँ और दूसरों को भी बचा ले जाएँ, यही उचित है। सदाचारी होना तो हम सबका कर्तव्य है ही, पर समय पड़ने पर दुर्जनों से निबटना भी आना चाहिए। जीवन की विविध स्थितियों में अपनी सूझ-बूझ से सफल हो सको, ऐसा अभ्यास करते रहो।



दादा की पंचायत

कुछ देर पहले वर्षा होकर रुकी थी। आकाश में इंद्र धनुष निकला। शीतल वायु बह रही थी। वृक्ष नहा-धोकर हवा में अपने पत्ते हिला-हिलाकर मानो नाच रहे थे। अभ्यारण्य में चारों ओर हँसी-खुशी का वातावरण छाया हुआ था। जीव-जंतु इधर-उधर से निकलकर घास के मैदान में इकट्ठे हो रहे थे। मन्नू मोर, कल्लू कौवा, मंदा बतख, लालू खरगोश, कन्नू केंचुआ तथा अन्य अनेक प्राणी वहाँ आ गए थे। सभी आराम से बैठे बतिया रहे थे तभी सहसा मन्नू मोर की निगाह इंद्र धनुष पर गई और नाच उठा। थोड़ी देर नाचने के बाद फिर अपनी जगह बैठते हुए कहने लगा—"यह इंद्र धनुष भी मेरी तरह सुंदर है।"

कल्लू कौवा बोला—"केवल पंख ही तो सुंदर हैं तुम्हारे। कभी अपने पैरों की ओर भी देखा है। वे कितने भद्दे और बद्सूरत हैं।"

मन्नू की आँखें गुस्से से लाल हो उठीं। वह कड़ककर बोला—"चुप रह वे काले-कलूटे। तू मेरी सुंदरता देखकर चिढ़ता है।" मन्नू को इतने पर भी संतोष न हुआ। उसने जाकर कौवे की पीठ पर जोर से अपनी चोंच से नोंच लिया।

यह देखकर मंदा बतख को अच्छा न लगा। वह कल्लू के पक्ष में बोलने ही जा रही थी, पर कल्लू चार दिन पहले उससे लड़ पड़ा था इसलिए वह सोच रहा था कि मंदा भी मोर की भाँति अपनी सुंदरता पर गर्व करते हुए उसे जली-कटी बातें सुनाएगी। वह कर्कश स्वर में जल्दी से बोला—"हाँ-हाँ रानीजी ! तुम्हें भी अपने दूध जैसे रंग का, शरीर की सुंदरता का बड़ा गर्व होगा। कहने-सुनने में जो कमी रह गई है उसे तुम भी पूरी कर लो।"

यह सुनकर मंदा को गुस्सा आ गया। वह बोली—"तू जरा धीरज से सुनता तो सही कि मैं क्या बोलने जा रही हूँ। तू शरीर से

जैसा कुरूप है वैसा ही मन का काला और अक्ल का मोटा है। तुझे व्यवहार की सभ्यता तक का पता नहीं कि पहले दूसरे की बात सुन ले तब अपनी कहे।"

मंदा बतख और कल्लू कौवे की नोंक-झोंक सुनकर लालू खरगोश दाँत निकालकर हँस पड़ा। कन्नू केंचुए को यह बहुत बुरा लगा। वह बातचीत के बीच में ही बोल पड़ा—"वाह भाई साहब ! दूसरों पर कितना हँसते हो ? कभी अपने कान भी देखे हैं ? लगता है कि न जाने तुमने कितनी गलतियाँ की हैं जो उन्हें भगवान ने खींच-खींच कर लंबा बना दिया है।"

कन्नू की बात सुनकर गुस्से से दाँत निकालकर, मूँछों को फड़कते हुए बोला—"अरे मरगिल्ले ! सूत-कपास से तू चुप ही रह। ज्यादा बकवास न कर। कहीं ऐसा न हो कि मेरे पैरों से ही कुचलकर मर जाए।"

इन सब की सारी बातें पेड़ पर बैठे नीलकंठ दादा बड़ी देर से सुन रहे थे। वे सोच रहे थे कि आपस में ही ये झगड़ा निपटा लेंगे, पर जब उन्होंने देखा कि लड़ाई कम होने की अपेक्षा और बढ़ती ही जा रही है तो उन्होंने बीच में बोलना उचित समझा। पेड़ की ऊँची डाल से ही वह बोले—"बच्चो ! इतने सुहावने मौसम को लड़-झगड़कर क्यों बरबाद कर रहे हो ? आपस में स्नेह और भाई-चारे से रहो। सुख और शांति से जिओ और जीने दो।"

"देखो दादा ! यह मन्नू मोर कितना घमंडी है ?"

"कल्लू कौवा कितना धूर्त है ?"

"मंदा बतख कैसी कर्कशा है ?"

"लालू खरगोश कितना उद्दंड है ?"

"कन्नू केंचुआ कितना लड़ाकू है ?"

जानवरों की यह आवाजें नीलकंठ दादा को चारों ओर से सुनाई देने लगीं। वे एक-दूसरे की शिकायत कर रहे थे। तभी लालू खरगोश बोला—"दादाजी ! कृपया नीचे आइए और हमारे झगड़े का निपटारा कीजिए।"

"हाँ दादाजी ! आप ही आकर निर्णय दीजिए कि हम में से कौन कैसा है ?" सभी एक साथ कहने लगे।

नीलकंठ दादा को अब पेड़ से नीचे उतरना ही पड़ा। वह फुर्र से उड़कर उन लड़ाकुओं के बीच में जाकर बैठ गए। बड़ी गंभीरता से वह उन सबको समझाते हुए बोले—"बच्चो ! एक-दूसरे के दोष ढूँढ़ने से क्या लाभ होगा ? अच्छाई और बुराई तो सभी में हैं, स्वयं हम में भी है। दूसरों के तो तिलभर दोष भी हमें ताड़ के समान दिखाई देते हैं, परंतु अपने बड़े से बड़े दोष को हम देखते हुए भी नहीं देखना चाहते। सोचो ! जितना समय हम दूसरों पर दोषारोपण करने में लगाते हैं उतने समय में यदि गंभीरता से अपने दोषों पर विचार करें, उन्हें हटाने की कोशिश करें तो हम कितने अच्छे बन जाएँगे। अपनी बुराइयों को दूर करना, अपने आपको अच्छा बनाना हर किसी का पहला कर्तव्य है, पर हम यहीं प्रमाद कर जाते हैं। हम तो दूसरों के दोष ढूँढ़-ढूँढ़कर निंदा, चुगलखोरी, झूठ और लड़ाई के दुर्गुण और अपना लेते हैं।"

नीलकंठ दादा की बात बिल्कुल सही थी। उसे सुनकर ही मन्नू, कल्लू, मंदा, लालू और कन्नू आदि सभी की गरदन शर्म से झुक गई।

दादा फिर बोले—"बुरे की बुराई करके हम किसी को सुधार नहीं सकते। दूसरे की बुरी आदत को हम स्नेह और सद्भावना और सद्व्यवहार से ही छुड़ा सकते हैं।"

"दादाजी ! आपकी बात बिल्कुल सच है।" मन्नू मोर बोला।

"शरीर तो भगवान की दी हुई देन है। हमारा कर्त्तव्य तो यही है कि अपने आप को गुणों से सुंदर बनाने की कोशिश-प्रयास करें। अपने ही गुणों, कर्मों और स्वभावों का परिष्कार करें।" कल्लू कौवा कहने लगा।

"कल्लू भाई ! तुम कितने अच्छे हो, अपनी रोटी मिल-बाँटकर खाते हो। लगन और धैर्य तुम्हारा सबसे बड़ा गुण है। किसी काम में असफल होने पर भी निरंतर प्रयास करते रहते हो; अंत में सफलता

पाकर ही चैन लेते हो। तुम्हारा यह गुण "काक चेष्टा" के नाम से संसार-भर में प्रसिद्ध है।" मन्नू मोर बोला।

उसकी बात बीच में ही काटते हुए कल्लू कौवा बोला—"बस भाई ! मैं इतनी बड़ी प्रशंसा के योग्य तो नहीं। आज से मेरी आँखें खुल गईं। अब मैं अपने दुर्गुण दूर करने की कोशिश करूँगा।"

फिर वह मंदा बतख से माफी माँगते हुए बोला—"बड़ी दीदी ! मुझे तुमसे इस तरह अभद्रता से बातें नहीं करनी चाहिए थीं। गुस्से में मैं अपना आपा ही खो बैठा था। मेरे कहने-सुनने को माफ करना।'

मंदा बोली—"भैया ! तू भी मुझे माफ करना। मैं भी तो तुमसे बड़ी कठोरता से बोली थी। कौन कैसा है ? इसकी पहिचान उसके व्यवहार से ही होती है। बाहर से सुंदर होने से क्या ? व्यवहार की मधुरता और वाणी की मृदुता ही सुंदरता की वृद्धि करती हैं। सुंदर वही है जिसने अपनी वाणी में स्नेह और सौजन्य का उचित समावेश कर लिया है।"

उधर लल्लू खरगोश कन्नू केंचुए से कह रहा था। 'छोटे भैया ! क्रोध के आवेश में मैं तुमसे न जाने क्या-क्या कह गया। कैसा मूर्ख हूँ, अविवेकी हूँ कि मैं छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित हो जाता हूँ। अपना मानसिक संतुलन खो बैठता हूँ। भाई ! तुम क्षमा करना। अब मैं अपने स्वभाव को संतुलित रखने की पूरी कोशिश करूँगा। ओह ! तुम कितने अच्छे हो, परोपकारी हो। तुम्हीं तो पृथ्वी के नीचे की मिट्टी को ऊपर सतह पर ले आते हो, भूमि को उपजाऊ बनाते हो। खेती को हरी-भरी बनाने में तुम्हारे योगदान को क्या कभी भूला जा सकता है।'

इन सभी की बातें सुनकर नीलकंठ दादा मन ही मन बड़े प्रसन्न हो रहे थे। वह बोले—"बच्चो ! इस तरह एक-दूसरे की अच्छाई देखना और अपनाने की कोशिश करना। दूसरे की बुराई पर ध्यान तो रखना, पर स्वयं बचे रहना। कभी किसी की तीखी और भद्दी आलोचना न करना। अपने दुर्गुणों का ध्यान रखना, उनकी कटु

आलोचना करना और इसमें ढील न देना। जीवन की सफलता का, अच्छा बनने का यह एक बड़ा रहस्य है।"

"दादाजी ! आपकी इस सुंदर सीख को सदैव याद रखेंगे। हम अपने आपको ऐसा ही बनाएँगे।' सभी एक स्वर में बोले। फिर उन्होंने सिर झुकाकर नीलकंठ दादा को प्रणाम किया और खुशी-खुशी अपने घर की ओर लौट चले।



साहसिक यात्रा

गंगा नदी में एक कछुवा और एक कछुवी रहते थे। कछुवे का नाम था राजा और कछुवी का नाम था रानी। दोनों का जीवन बड़ी हँसी-खुशी से बीत रहा था। खाने की वहाँ कमी न थी। ढेरों मछलियाँ, कीड़े और पौधे भी थे। दोनों भरपेट खाते, गंगा में तैरते रहते और जब मन आता, तो एकांत में बालू के किनारे पर आ जाते। वहाँ वे अपनी गर्दन और सिर अपने खोल में छिपाकर लेटे रहते या फिर घंटों आने-जाने वाले यात्रियों को देखा करते। यात्री गंगा में स्नान करते, वहाँ बैठकर पूजा-आरती करते। रानी को यह सब देखना बहुत अच्छा लगता।

राजा और रानी का यह सुखमय जीवन बहुत दिनों तक न चल सका। कहीं से एक घड़ियाल भी वहाँ आ गया। वह घड़ियाल राजा-रानी को बहुत तंग करता। वह चाहता था कि कैसे भी ये मर जाएँ जिससे कुछ दिनों तक उसकी दावत हो जाए, परंतु राजा और रानी उससे सावधान रहते और वे उससे बचते रहते, पर घड़ियाल उनका पीछा करता रहता। वह इतनी शानदार दावत को खोना नहीं चाहता था। राजा-रानी नदी के तट पर आराम करते होते तो वहाँ भी पहुँच जाता। उसके चेहरे पर सदैव मुस्कान रहती। वह राजा-रानी से मित्रता करने का प्रयास करता। राजा-रानी उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में न फँसते। बुद्धिमान वे होते हैं जो परिस्थिति को अच्छी तरह देखकर काम करते हैं। स्वयं विचार न करने वाले, आँख बंद करके दूसरों की सलाह पर चलने वाले ठोकर खाते हैं। राजा-रानी ने भी मगर की बातों को न माना।

राजा-रानी का चैन से रहना अब दूभर हो गया था। एक दिन दोनों घूमते-घूमते दूर निकल गए। वे वहाँ बैठकर अपनी स्थिति पर विचार करने लगे। राजा बोला—"रानी ! घड़ियाल तो मारेगा तब

मारेगा, परंतु चिंता और भय ने तो हमें अधमरा कर दिया। विपत्ति की आशंका करके ही हम इतने दुर्बल हो जाएँगे कि शत्रु हमें आसानी से मार डालेगा।"

रानी कहने लगी—"हाँ ! जल्दी से जल्दी कोई उपाय सोचना चाहिए। कठिनाइयों से केवल चिंतित होते रहना मूर्खता है। कठिनाइयों से संघर्ष करके, उलझनों को सुलझाकर, धैर्य और साहस से काम करने पर ही उपलब्धियाँ मिलती हैं।"

राजा बोला—"हाँ ! यह तो है ही। अब हमें साहस से काम लेना होगा। ऐसा करें कि गंगा तट छोड़कर कहीं और चलें, चिंता और तनावों से मुक्ति हो।"

"पर हम तो आज तक कभी यहाँ से कहीं पर गए ही नहीं। अनजान पथ पर कहाँ जाएँगे ?" रानी कुछ रुक-रुककर गंभीरता से सोचते हुए बोली।

"यह सब ठीक है कि पथ अनजान है, पर कहीं तो कोई रास्ता मिलेगा ही। मनस्वी और धैर्यशील के लिए सुख और सफलता के सारे रास्ते अपने आप खुल जाते हैं। चिंता और तनावों में घुल-घुलकर जीने की अपेक्षा कठिनाइयों से जूझकर हँसते-हँसते मर जाना अधिक अच्छा है।" राजा ने कहा।

"तुम्हारी बात बिल्कुल सही है। बस यही हमारा अंतिम निर्णय है। अब अधिक सोच-विचार करना बेकार है। चलो ! आज से, अभी से अपनी यात्रा शुभारंभ करें।" रानी कछुवी उत्साह से आगे बढ़ती हुई बोली।

राजा-रानी गंगा छोड़कर लंबी यात्रा पर निकल गए। रास्ते में दोनों को कोई विशेष कठिनाई न हुई। जगह-जगह पानी-खाना मिल ही जाता था। अब उनके मन में न कोई चिंता थी न तनाव। दोनों ही आपस में कहते कि हमारी सारी आशंकाएँ बेकार निकलीं। हम पहले ही यात्रा पर चल पड़ते तो और भी अच्छा रहता, परंतु कुछ समय चलने के बाद उनके सामने कठिनाइयाँ आरंभ हो गईं। कभी खाना न मिलता तो कभी दूर-दूर तक पानी दिखाई भी न देता। एक

दिन सुबह से चलते-चलते दोपहर हो गई। कड़ी धूप थी प्यास से उनके गले सूखे जा रहे थे। रानी घबरा गई, वह हताश होकर एक पेड़ के नीचे बैठ गई और बोली—"लगता है आज तो प्यास से प्राण ही निकल जाएँगे।"

राजा समझाते हुए बोला—"घबराओ नहीं रानी ! कुछ धैर्य रखो, कोई न कोई उपाय तो मिलेगा।"

राजा यह कहकर मिट्टी के ऊँचे ढेर पर चढ़ गया। उसने दूर-दूर तक निगाह दौड़ाई। सहसा ही उसे थोड़ी दूर पर पानी बहता हुआ-सा दीखा। वह खुशी से चिल्लाया—"रानी ! अब बस थोड़ी दूर ही चलना है, वहाँ पानी ही पानी है।"

पानी का नाम सुनकर रानी भी उत्साह से भर उठी। दोनों तेजी से उसी दिशा में बढ़ चले जहाँ पानी दिखाई दे रहा था। वहाँ सचमुच ही मीठा और ठंडा पानी था। दोनों ने जी भर कर अपनी प्यास बुझाई। राजा कहने लगा—"जब विपत्ति सामने आती है तो उसका हल भी साथ होता है, परंतु वह विचार कर कार्य करने वाले को ही मिलता है।"

राजा और रानी दोनों पानी पीकर फिर आगे बढ़ते गए और अंत में खेत के कुएँ के पास पहुँच गए। राजा ने कुएँ में झाँक कर देखा तो वहाँ पर बहुत जल ही जल था। वह बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"रानी ! हम हमेशा पानी में रहना चाहते थे न। देखो यहाँ पानी ही पानी है।"

"पर पानी कितनी गहराई पर है ? कैसे हम वहाँ तक पहुँचेंगे और कैसे वहाँ से निकलेंगे ?" रानी उदास होते हुए बोली। उसने कभी कुआँ न देखा था।

"हमें इस बार फिर साहस और जोखिम भरा निर्णय लेना होगा। मैं ऐसा करता हूँ कि कुँए में छलांग लगाता हूँ। यदि ठीक लगा तो तुम्हें आवाज दे दूँगा।"

रानी ने कुछ कहने को मुँह खोला ही था कि तब तक राजा छलांग लगा चुका था। रानी भौंचक्की-सी देखती ही रह गई। तभी

उसे कुएँ में से राजा की आवाज सुनाई पड़ी। वह खुशी से चिल्लाकर कह रहा था—"रानी जल्दी आओ ! अब रानी ने भी कुँए में छलांग लगा दी। दोनों ही खुश होकर नाचने लगे। बहुत दिनों की यात्रा के बाद, लम्बे संघर्ष के बाद दोनों को निश्चिंत होकर रहने की जगह मिली थी।

राजा ने रानी का हाथ पकड़कर पूरे कुएँ का एक चक्कर लगाया और झूमते हुए बोला—"यहाँ पर कोई भी नहीं है। यहाँ से अब हमें कहीं जाना भी नहीं होगा। मैं यहाँ का राजा होऊँगा और तुम रानी होंगी।"



परख

धनपतिराय बहुत बड़े उद्योगपति थे। उनके कारखाने में सैकड़ों आदमी काम करते थे। एक बार अचानक ही उनके कारखाने के व्यवस्थापक की मृत्यु हो गई। धनपतिराय महत्त्वपूर्ण पदों पर उन्हीं कर्मचारियों की नियुक्ति करते थे जो योग्य होने के साथ-साथ गुणवान् भी होते थे। वह कहा करते थे कि वह व्यक्ति जिसमें केवल बौद्धिक योग्यता है और नैतिकता की जिसमें कमी है, विशेष महत्त्व नहीं रखता। अतएव उन्होंने ऐसे व्यक्ति की खोज प्रारंभ कर दी जो बौद्धिक योग्यता के साथ-साथ शिष्ट व्यवहार, ईमानदार और अच्छे विचारों वाला हो।

कारखाने के व्यवस्थापक का पद बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अधिकांश व्यक्ति इस पद को पाना चाहते थे। निश्चित दिन उन सभी को साक्षात्कार के लिए बुलाया गया, परंतु प्रश्न यह उठा कि उनकी बौद्धिक योग्यता के विषय में तो साक्षात्कार से जाना जा सकता है, परंतु चारित्रिक योग्यता के विषय में कैसे पता लगे ? धनपतिराय ने मन ही मन इस बात पर गंभीरता से विचार किया। आखिर में उन्होंने एक युक्ति खोज ही ली।

साक्षात्कार लेने के लिए स्वयं धनपतिराय और उनका पुत्र बैठे। पहले वे प्रतियोगी से बौद्धिक योग्यता से संबंधित विविध प्रश्न पूछते। उससे संतुष्ट होने पर अपनी योग्यता के अनुसार पिता-पुत्र कार्य करते। वे किसी एक-दूसरे प्रतियोगी को लेकर आपस में बातचीत करते उसकी प्रशंसा करते। फिर जो प्रतियोगी उनके सामने बैठा होता उससे पूछते कि आपकी दृष्टि में अमुक व्यक्ति व्यवस्थापक पद के लिए कैसा रहेगा ? ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो दूसरों को गिराकर आगे बढ़ने में तनिक भी नहीं झिझकते। उनके लिए अपना स्वार्थ प्रमुख होता है जिसके लिए वे नीच काम भी करने के लिए

तैयार रहते हैं, पर समझदार व्यक्ति उनकी मीठी बातों में छिपे ओछेपन को जान जाते हैं।

प्रायः सभी प्रतियोगियों ने यही किया जैसा कि धनपतिराय सोच रहे थे। जैसे ही वे किसी व्यक्ति को इस पद के योग्य बताते, सामने बैठा प्रतियोगी उसके अवगुणों को बतलाने लगता। वह उसको उस पद के सर्वथा अयोग्य और स्वयं को योग्य सिद्ध करने का जी-जान से प्रयास करता। दूसरे की सज्जनता पर कीचड़ उछालने में उसे तनिक भी झिझक नहीं लगती।

केवल एक प्रतियोगी इसका अपवाद निकला। जब उससे धनपतिराय ने दूसरे प्रतियोगी की प्रशंसा करते हुए उसके विषय में सलाह माँगी तो उसने अन्य प्रतियोगियों की भाँति उस व्यक्ति की बुराई नहीं की। उसने दूसरे प्रतियोगी के सद्गुणों का ही वर्णन किया। उसने अपनी योग्यता को बढ़ा-चढ़ाकर भी नहीं बताया, दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा स्वयं को अधिक योग्य सिद्ध करने का प्रयास भी नहीं किया। धनपतिराय ने बहुत प्रयास किया, पर न उसने दूसरों की बुराई की और न अपनी बड़ाई की। उल्टे यही कह दिया कि आप तो सबकी कार्य-क्षमता को और योग्यता-अयोग्यता को अच्छी तरह जानते ही हैं।

धनपतिराय की परीक्षा में वह व्यक्ति खरा उतरा था। अपने स्वार्थ को गौण बनाकर दूसरे को महत्व देने का कार्य दृढ़ चरित्र वाला, उदात्त विचारों वाला व्यक्ति ही कर सकता है। ऐसा व्यक्ति प्रारंभ में भले ही महत्व प्राप्त न करे, पर एक न एक दिन जब उसकी सच्चाई से लोग परिचित होते हैं तो वह उनकी नजरों में बहुत ऊँचा उठ जाता है। व्यवस्थापक पद के लिए तुरंत उस व्यक्ति का चयन कर लिया गया। एक समारोह में सभी कर्मचारियों की उपस्थिति में उत्तीर्ण प्रतियोगी प्रबोधचंद्र की व्यवस्थापक पद पर नियुक्ति की घोषणा की गई। धनपतिराय ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—"भाइयो ! श्री प्रबोधचंद्र को इस कारखाने के व्यवस्थापक के पद पर नियुक्त करते हुए हमें प्रसन्नता है। हमें विश्वास है कि हम उनकी बौद्धिक योग्यता

से तो लाभान्वित होंगे ही, साथ ही उनकी सज्जनता, चारित्रिक दृढ़ता और सद्व्यवहार हम सभी को गौरवान्वित करेगा। सज्जनता में ही मनुष्य का सच्चा बड़प्पन छिपा रहता है, वही उसकी सबसे बड़ी योग्यता है।"

प्रबोधचंद्र की नियुक्ति से सभी श्रमिक भी प्रसन्न थे, क्योंकि उनके सद्व्यवहार के पहले से ही प्रशंसक थे। दूसरों को सम्मान देने वाला स्वयं भी सदैव सम्मानित होता है।



बड़ी अम्माजी

"बड़ी अम्माजी' निखिल की दादी थीं। मौहल्ले भर में इसी नाम से प्रसिद्ध थीं। एक दिन वे प्रातःकाल सब्जी मंडी से लौट रही थीं। वे कुछ ही दूर चली थीं कि उन्होंने देखा कि तीन व्यक्ति आपस में झगड़ रहे हैं। एक की हथेली पर सोने का चमचमाता टुकड़ा रखा था। एक आदमी कह रहा था—"सड़क पर पड़ा हुआ मैंने ही तुम्हें बताया था, इसलिए इस पर मेरा अधिकार है।"

दूसरा कह रहा था—"यह मैंने उठाया है, इसलिए इस पर मेरा ही अधिकार है।"

तीसरा कह रहा था—"वाह भई वाह ! हम तीनों ही साथ-साथ थे। तीनों को यह टुकड़ा मिला है, इसलिए इस पर हम तीनों का ही अधिकार है।"

बड़ी अम्माजी उन्हें देखकर एक पल ठिठकीं, पर फिर तुरंत ही आगे बढ़ गईं। उन्होंने सोचा कि मुझे क्या ? मैं अपने रास्ते पर जाऊँ, इनका तो आज सुबह-सुबह भाग्य खुल गया, परंतु वे दौड़ते हुए उनके पास आए और कहने लगे—"अम्माजी-अम्माजी ! आप इस बात को किसी से न कहना। हम तो गरीब आदमी हैं। आज तो भगवान की बड़ी कृपा हुई है जो यह सोने का टुकड़ा सड़क पर पड़ा पा गया है। हमारा दुःख-दरिद्र कुछ दिन को तो मिट ही जाएगा।"

उनके दौड़कर आने से अम्माजी एक पल चौंकी। फिर कहने लगीं—"अरे ! मैं क्यों किसी से कहने लगी। जैसा तुम्हारा मन आए वैसा करो, पर अच्छा तो यही था कि तुम इसे थाने में जमा करा देते। जिसकी चीज होगी उसे मिल जाएगी।"

एक आदमी अम्माजी के पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा—"अम्माजी हम ऐसा ही करते, पर हम इतने गरीब हैं कि हमारे पास पेट भरकर खाने के लिए भी नहीं है। हमारे बच्चों के पास न पेट भर खाने को है, न तन ढकने के लिए कपड़ा। इसलिए मजबूरी में हमें यह पाप करना पड़ रहा है।"

अम्माजी चुप रहीं तभी दूसरा आदमी कहने लगा—"माताजी हम इस टुकड़े के चार बराबर हिस्सा कर लेंगे जिसमें एक हिस्सा आपका होगा।"

"न भाई न, मेरे पास तो भगवान का दिया बहुत है। पराए माल से कोई धनवान नहीं बन सकता, सुख नहीं पा सकता। तुम यह अपने पास ही रखो।" अम्माजी बोली।

तीसरा आदमी बोला—"नहीं माता जी ! अब तो आप भी इसमें हिस्सेदार होंगी। हमारा यह उसूल है कि हर चीज को मिल-बाँटकर लेते हैं। हम तीनों के साथ-साथ आपने भी तो सोने का टुकड़ा देखा ही है। फिर भला इसमें आपका भाग क्यों न होगा ? हम तो आपको देकर ही मानेंगे।"

"हाँ यह ठीक है। जब सभी को हिस्सा मिल जाएगा तो फिर किसी के पुलिस में शिकायत करने का डर भी न रहेगा।" पहला आदमी बोला।

अम्माजी ने बहुतेरी न-न करती रहीं, पर तीनों आदमी सोने के टुकड़े को चार भागों में तोड़ने में जुटे रहे, पर सोने का टुकड़ा भारी था, ठोस था कैसे टूट सकता था ? हारकर एक आदमी ने उसे बड़ी अम्माजी के हाथ पर रखते हुए कहा—"आप बड़ी हैं और हमारी पूज्य हैं। इसलिए आप ही इसे बराबर-बराबर भागों में बाँट दीजिए।"

सोने की चमक से अम्माजी की आँखें भी चौंधिया गयीं। उनके मन में लालच समा गया। वह सोचने लगीं—"इसे ये कहीं से चुराकर तो नहीं लाए हैं ? फिर भला यदि मुझे भी हिस्सा मिल ही जाता है तो क्या पाप है ?"

अम्माजी ने सोने के उस टुकड़े को तोड़ने की बहुत कोशिश की पर वह न टूटा। तभी एक आदमी बोला—"माताजी ! जल्दी करिए। कहीं ऐसा न हो कि कोई हमें देख ले और हम पकड़े जाएँ। सड़क पर लोग आने-जाने शुरू हो गए हैं।"

पकड़े जाने का नाम सुनकर बड़ी अम्माजी हड़बड़ा गईं। यह देखकर दूसरा आदमी कहने लगा—"माताजी ! यदि आपको ठीक लगे तो ऐसा करिए कि यह सोना आप रख लीजिए और हमें अपना हार दे दीजिए। सोने का टुकड़ा आपके हार से भारी ही होगा, पर क्या किया जाए ? यह तो टूट ही नहीं रहा। हार के तो तोड़कर हिस्से कर लिए जाएँगे।"

अब बड़ी अम्माजी अपना लालच न रोक सकीं। उन्होंने सोचा—"आखिर इसमें बुरा भी क्या है ? हार के बदले में हार से भी भारी सोने का टुकड़ा मिल रहा है। हार में से भी मेरा हिस्सा होगा सो अलग।"

उन्होंने झटपट अपने गले से सोने का हार उतारकर दे दिया। पलक झपकते ही एक आदमी ने उसके चार टुकड़े कर दिए। एक-एक टुकड़ा सभी को दे दिया।

"यद्यपि हम तीनों घाटे में रहे हैं, पर समय पर आपने सहायता कर दी यही सबसे बड़ी बात है। फिर आप तो माँ हैं, माँ से बराबरी कैसी ? अच्छा माताजी नमस्ते।" वे तीनों आदमी बोले।

ऐसा कहकर वे सभी तेजी से इधर-उधर अलग-अलग दिशाओं में चले गए। अम्माजी भी बहुत प्रसन्न होती हुई अपने घर लौटीं। आज उनके पैर जमीन पर न पड़ रहे थे। वे अपनी बुद्धिमानी पर मन ही मन मुस्करा रही थीं। वे सोच रही थीं कि आज फिर घर वाले और पड़ौसी उनकी बुद्धिमानी की प्रशंसा करेंगे। वे अपनी तेजी और अक्लमंदी के लिए सभी में प्रसिद्ध थीं।

बड़ी अम्माजी जब घर लौटीं, निखिल के पिताजी आफिस जा चुके थे। उन्होंने निखिल की माँ को सारी बातें हँस-हँसकर बतलाईं।

निखिल की माँ को शक हुआ, पर वे उस समय कुछ न बोलीं और हाँ-हूँ करती रहीं।

खाना-पीना खत्म होने के बाद दोपहर में निखिल की माँ बोली—"अम्माजी ! चलिए उस सोने को दिखा लाएँ।"

"अरी बहू ! शुद्ध सोना है वह, मेरी अनुभवी आँखें पहिचानने में भूल नहीं कर सकती। तू तो बेकार में ही संदेह कर रही है।"

निखिल की माँ बोली—"अम्माजी ! चलिए यही तुलवा लाएँ कि कितना है वह। आज आपको कितने रुपयों का लाभ हुआ ? भगवान को प्रसाद भी न बाँटेंगी आप।"

"अरे हाँ ! यह तुमने अच्छी बात याद दिलाई।" अम्माजी ने कहा और वे झटपट बाहर जाने के लिए तैयार हो गईं।

सुनार के सोने के टुकड़े को अच्छी तरह से निरख-परख कर बतलाया—"माताजी ! यह तो पीतल का टुकड़ा है, इस पर सोने की पालिश हो रही है।"

यह सुनकर माताजी का दिल धक से रह गया। "हाय रे" कहकर वे वहीं बैठ गईं। कुछ देर बाद वे जैसे-तैसे घर वापिस लौटीं। दो-चार दिन उनसे खाना न खाया गया। वे बार-बार अपने आपको कोसती रहतीं। जरा से लालच में फँसकर वे अपना भारी नुकसान कर बैठी थीं।



आलसी न रहो

राजेश के विद्यालय का रिक्शेवाला दरवाजे पर खड़ा लगातार आवाजें लगा रहा था। जल्दी-जल्दी में राजेश को न अपना एक मोजा मिल रहा था और न बस्ते का पूरा सामान। वह जोर-जोर से आवाजें लगा रहा था—"माँ ओ माँ।" राजेश की माँ रसोईघर में नाश्ता तैयार कर रही थीं। राजेश के छोटे भाई-बहिन, पिताजी सभी के जाने का समय हो रहा था। जल्दी-जल्दी उन सभी के लिए खाने के डिब्बे तैयार करके रखने थे, इसलिए उन्होंने वहीं से पूछा—"क्या बात है ?"

"मेरा एक मोजा नहीं मिल रहा है। रबर-पेंसिल भी गायब है।" कहते-कहते रुआँसा-सा होकर राजेश रसोईघर के दरवाजे पर आकर खड़ा हो गया।

माँ झल्ला पड़ीं—"रोज-रोज यही बात दुहराता है। कितनी बार कहा है कि अपना सामान सँभालकर रखा करो, पर तुम सुनते ही नहीं। सुबह के समय वैसे भी कितना काम होता है ? अपना काम अधूरा छोड़कर माँ उठीं। राजेश का सामान खोजने में १० मिनट लग गए और परिणाम यह हुआ कि उसके पिताजी को आफिस के लिए देर हो गई।

यह एक दिन की बात न थी, लगभग प्रतिदिन यही बात होती थी। स्कूल से आकर राजेश लापरवाही से अपनी चीजें इधर-उधर पटक देता और स्कूल जाते समय ढूँढ़ता-फिरता, माँ को तंग करता। यों राजेश अच्छा लड़का था, परंतु उसमें आलस और लापरवाही का बहुत बड़ा दुर्गुण था।

राजेश के पिताजी बड़े समझदार थे। वे उसकी माँ से एक दिन बोले—"देखो ! बचपन से बच्चे में जैसी आदत पड़ जाती है, वह हमेशा ही बनी रहती है। यदि अपने बच्चों में हम अच्छी आदतें

न डाल पाएँ, उन्हें सुसंस्कार न दे पाएँ तो असफलता हमारी ही है। बालक तो नासमझ होते हैं, उन्हें अच्छी बातें सिखाने का काम भी अभिभावकों का होता है।"

"सो तो है ही।" राजेश की माँ ने भी समर्थन किया।

"अपना राजेश यों तो अच्छा लड़का है, पर इसमें अभी से कितना आलस है ? सुबह बार-बार उठाने पर जागता है। किसी भी काम को फुर्ती से नहीं करता। कुछ करने को कहा जाए तो टालता ही रहता है। इस आयु में तो बच्चों में बहुत फुर्ती प्रायः होती है।" पिताजी कहने लगे।

माँ कहने लगीं—"राजेश की यह आदत छुड़ानी ही होगी।"

"हाँ ! निश्चित ही, क्योंकि आलस्य और दुर्भाग्य दोनों एक ही हैं। आलसी का भविष्य भी अंधकार भरा होता है। परिश्रम करना जिसे अच्छा नहीं लगता, जो आराम-तलब है, समय को बर्बाद ही करता रहता है वह व्यक्ति जीवन में कभी भी कोई उपलब्धि पा नहीं सकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए सफलता के द्वार बंद हो जाते हैं।" राजेश के पिताजी गंभीर होकर बोले।

"आपकी बात बिल्कुल सच है, पर प्रश्न तो यह है कि राजेश की यह आदत छुड़ाई कैसे जाए ?" माँ परेशान-सी कह रही थीं।

राजेश के पिताजी बोले—"किसी भी बुरी आदत में साथ देना, उसे बढ़ावा देना ही है। तुम राजेश का हर काम कर देती हो, इसलिए वह और भी अधिक लापरवाह बनता जा रहा है।"

"उसका काम न करूँ तो वह स्कूल जा ही नहीं पाएगा।" माँ कहने लगीं।

"यही तो बात है। दो-चार दिन नहीं जाएगा फिर अपने आप अक्ल आ जाएगी।" पिताजी ने समझाया।

"ठीक है अब ऐसा ही होगा।" माँ बोलीं। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि वे अपने मन को कड़ा बनाकर राजेश की यह आदत छुड़ाकर ही रहेंगीं। अच्छे माता-पिता वे नहीं होते जो बच्चों को अंधा दुलार देते हैं। सुयोग्य माता-पिता वे होते हैं जो बच्चों में

अच्छी आदतें डालते हैं, उन्हें अच्छे संस्कार· देते हैं। भले ही उन्हें स्नेह के साथ-साथ कठोरता ही क्यों न अपनानी पड़े।

राजेश को माता-पिता की इन बातों का कुछ पता न था। उसका तो वही रवैया था—स्कूल से आकर कहीं बस्ता फेंकना, कहीं कपड़े डालना। घंटों तक आलस में लेटे रहना और समय भी व्यर्थ करना। माँ उसे अब टोकती भी न थीं और न उसका कोई काम ही करती थीं। वह लेटे-लेटे कहता—"माँ पानी पिला दो।" तो माँ भी यह कह देती थीं कि स्वयं ही लेकर पी लो, मैं काम कर रही हूँ। गृह-कार्य के लिए वे पहले की भाँति उसकी खुशामद नहीं करतीं। वे कह देतीं कि तुम स्वयं समझदार हो, स्कूल में सजा पाना पसंद नहीं करते तो अपने आप अपना गृह-कार्य कर लो। राजेश अपनी आदत के अनुसार स्कूल जाते समय अपनी चीजें ढूँढ़ता और माँ को आवाजें लगाता। माँ अब पहले की भाँति सारा काम बीच में छोड़कर नहीं आती थी। राजेश चीजें ढूँढ़ता जाता और झल्लाता जाता। अब उसे प्रायः स्कूल को देर होने लगी। बाहर निकलते ही रिक्शेवाला उस पर नाराज होता और स्कूल में भी सजा मिलती। घर आकर राजेश माँ से कुछ भी कहता तो कह देतीं—"बेटे ! तुम शाम को ही अपना बस्ता लगाकर रख दिया करो। तुम सदैव देखते तो हो कि सुबह मेरे पास कितना काम रहता है। तुम तो काफी समझदार हो, स्वयं अपना काम कर सकते हो।"

राजेश आखिर स्कूल कब तक देर से जाता। अब वह चिंता करके स्कूल की अपनी सारी चीजें रात को ही सहेजकर रख लेता। उसकी किताबों की अलमारी और कपड़ों की अटैची भी साफ-सुथरी रहने लगी है। राजेश का आलसी स्वभाव भी अब कम होता जा रहा है। अपना काम वह स्वयं करने का प्रयास करता है। अब तो उसके माता-पिता को उससे कोई शिकायत नहीं है।



भूल

अजय अपने भाई-बहिनों में सबसे छोटा था। उसकी माँ उसे बहुत प्यार करती थीं। प्यार करती तब भी ठीक था, वे तो उसे अंधा दुलार करती थीं। अजय की गलती पर यदि कोई उससे कुछ कहता तो वह अजय से कुछ न कहकर उल्टे उसे ही डाँटने लगतीं। भाई-बहिनों को यह अच्छा न लगता। पिताजी कहते—"तुम इसे लाड़-प्यार में बिगाड़ दोगी।"

माँ कहतीं—"अजी ! रहने भी दो, बच्चा है यह अभी तो। बड़ा होगा तो अपने आप समझ आ जाएगी।" वे यह भूल जाती थीं कि बचपन में जो आदतें अपना लेते हैं, वे सहज ही नहीं छूटतीं। यही कारण है कि समझदार माता-पिता बच्चों के सही विकास का बहुत अधिक ध्यान रखते हैं। प्रारम्भ से ही उनमें कोई गलत आदत नहीं पनपने देते।

जिन बच्चों को माता-पिता केवल प्यार देते हैं अनुशासन नहीं, उनके बिगड़ने का डर बना ही रहता है। अजय के साथ भी यही बात थी। वह बड़ा ही शरारती बन गया था। पढ़ने-लिखने में तो उसका तनिक भी मन न लगता था। वह सारे दिन इधर-उधर ही उछल-कूद मचाता रहता। बड़े भाई यदि पढ़ने के लिए डाँटते तो वह रोने लगता। उसे रोते देखकर माँ उसका पक्ष लेने लगतीं। भाई बेचारे चुप हो जाते।

अजय स्कूल जाता, पर वहाँ भी उसका तनिक भी मन न लगता था। कक्षा में जब सारे बच्चे ध्यान से पढ़ते होते तो अजय बाहर देखता रहता था और फिर कोई नई शरारत सोचता रहता। वह सदैव पीछे बैठता और पढ़ाई के समय इधर-उधर ही देखता रहता। उससे कोई प्रश्न पूछा जाता तो कभी भी वह उसका उत्तर न दे पाता था। कक्षा में वह अध्यापकों की दृष्टि से बचने का प्रयास ही

करता, पर अजय लम्बा था अतएव पीछे बैठने पर भी वह शिक्षकों को अच्छी तरह दिखाई देता था।

अजय के हिंदी के अध्यापक उसके पिताजी के घनिष्ठ मित्र थे। वे उसे प्रायः समझाया करते—"बेटे ! देखो यदि तुम ठीक से पढ़ोगे-लिखोगे तो बड़े आदमी बनोगे, सभी तुम्हारा आदर करेंगे। यदि तुम यों ही शरारत करते रहोगे तो अपना समय बर्बाद करते रहोगे। थोड़ा-बहुत भी न पढ़ोगे तो बड़े होकर तुम्हें बहुत परेशानी होगी। यह समय तुम्हारे जीवन के निर्माण का है। इसका सदुपयोग करो अन्यथा फिर जीवन भर पछताना ही शेष रहेगा। बीता हुआ समय कभी लौटकर नहीं आता।"

अजय उनकी बातें ध्यान से सुनता, पर दूसरे ही क्षण वह उन सबको भूल जाता। माँ के अंधे लाड़ से उसमें यह आदत पड़ गई थी कि जो अच्छा लगे वह करो, जो न लगे वह न करो। पढ़ाई उसे तनिक भी अच्छी न लगती अतएव वह न कक्षा में ध्यान से पढ़ता था, न घर आकर पढ़ने की कोशिश करता था। बड़े भाई के डर से थोड़ी-बहुत देर पढ़ने भी बैठता तो इधर-उधर देखता रहता। कागज पर खेल-सा खेलता ही रहता या फिर किताब खोलकर कुछ न कुछ सोचता रहता था।

इस सबका परिणाम जो होना था वही हुआ। अजय बार-बार अनुत्तीर्ण होने लगा। एक-एक कक्षा से वह दो-तीन बार में उत्तीर्ण होता और वह भी तब, जबकि उसकी माँ स्कूल में कुछ रुपए दे आतीं। यह स्थिति देखकर उसके पिताजी बड़े चिंतित हुए। अजय को गाँव से उसके बड़े भाई के पास मैनपुरी भेज दिया गया। अजय के भाई मैनपुरी में वकील थे।

अजय के माता-पिता सोचते थे कि मैनपुरी जाकर वह सुधर जाएगा, पर हुआ उसका उल्टा ही। अजय के भाई को तो बिलकुल समय मिलता न था। उन्होंने उसके लिए एक अध्यापक रख दिया था। अजय उनसे भी न पढ़ता था। पढ़ने की अपेक्षा उसका अधिकतर समय गप्प मारने, अध्यापक को तंग करने में बीत जाता।

वह न कभी स्कूल का काम करता और न कभी अध्यापक का। अध्यापक के आने पर जैसे-तैसे उनका थोड़ा बहुत काम कर लेता। एक दिन वे उसे जो पाठ पढ़ाते, दूसरे दिन वह उसे ध्यान ही न रहता। कभी भी वह उसे दुहराने की कोशिश न करता।

इस सबका जो परिणाम होना था वही हुआ। अजय मैनपुरी में भी नवीं कक्षा में तीन बार अनुत्तीर्ण हुआ। उसके भाई ने उसे प्यार से, डाँट से, मार से सभी प्रकार से समझाकर देख लिया था। एक दिन तो वह मन लगाकर पढ़ने की प्रतिज्ञा करता और दूसरे दिन भूल जाता।

अजय को आखिर फिर गाँव भेज दिया गया। अब वह अठारह साल का किशोर बन गया था। इस आयु में काम करने की बहुत शक्ति होती है। बुरे लड़कों की संगति में पड़कर अजय कहीं बिगड़ न जाए, यह सोचकर उसके पिता ने उसे खेती के काम में अपने साथ लगा लिया, पर अजय का मन खेती में भी बिल्कुल न लगता था। धूप, जाड़ा, आँधी, तूफान सहकर कठोर परिश्रम करके ही अन्न के दाने उगते हैं, परंतु परिश्रम करना तो अजय के स्वभाव में ही न था।

कुछ समय बाद अजय की माँ भी मर गई। पिताजी अब बुड्ढे और अशक्त हो चले थे। अजय न घर का ही कुछ काम करता था और न खेती ही देखता था। वह सारे दिन निठल्ला ही घूमता था। उसके भाई उससे नाराज रहने लगे। भाई तो मुँह से कुछ न कहते, परंतु भाभियाँ ताने मारने से न चूकतीं। अजय के निठल्लेपन को वे जब-तब कोसती रहतीं। यहाँ तक कि उसे चैन से भरपेट खाना मिलना भी दूभर हो गया।

अब अजय बड़ा उदास और परेशान रहने लगा। वह अपने भाइयों को देखता था कि सभी खूब कमाते और मस्त रहते हैं। वह अपने आपको कोसता कि वह क्यों न पढ़ा ? अब उसे अनुभव होता था कि यदि माँ उसका पक्ष न लेतीं, पढ़ाई के विषय में कठोरता

अपनाती तो सम्भवतः वह भी पढ़-लिख जाता और अपने भाइयों की ही तरह शान से रहता।

पिताजी भी अजय के लिए चिंतित रहते थे। वह सोचते थे कि मुझे भी भगवान न जाने कब बुला लें। तब मेरे पीछे कौन अजय की देखभाल करेगा ? अच्छा हो कि यह मेरे सामने ही स्वावलंबी बन जाए।

उन्होंने अजय को समझा-बुझाकर उसके लिए गाँव में ही परचून की एक दुकान खुलवा दी। अभी भी अजय अपनी उस छोटी-सी दुकान पर काम करता है। जैसे-तैसे अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करता है। अब अजय अपने भाइयों को देखकर ठंडी साँस भरकर सोचता है—"काश ! मैं भी पढ़-लिख पाता ?"

विद्यार्थी जीवन में जो ठीक से नहीं पढ़ते, अपना समय बेकार गँवाते हैं उन्हें अंत में पछताना ही पड़ता है।



विश्वासघाती

गोदावरी नदी के तट पर एक घना जंगल था। उसमें अनेक पशु-पक्षी रहते थे। वहाँ पर एक बड़ी ही चालाक लोमड़ी आ गई। वह दूर के जंगल से आई थी। वहाँ के राजा ने धूर्तता के कारण उसे निकाल दिया था।

नए जंगल में आकर धूर्त लोमड़ी ने सबसे पहला काम यह किया कि वह सब पर अपना विश्वास जमाने में लग गई। वह जानती थी कि एक बार सब पशु-पक्षियों पर विश्वास जमाकर फिर उसकी आड़ में स्वार्थ सिद्ध किए जा सकते हैं। वह सभी से मीठी-मीठी बातें करती। उसकी बातों में मानो मिश्री घुली होती। उससे बातें करके जी प्रसन्न हो जाता। उसके बात करने का ढंग इतना आकर्षक था कि जानवर उससे घंटों बातें करते, पर उन्हें बिल्कुल भी ऊब न होती। दु:ख-मुसीबत में वह सदैव दूसरों की सहायता करने का वचन देती। यह बात दूसरी है कि दसों से कहती तो एक की सहायता करती, पर दूसरे उसकी चाल क्या समझते ? वे तो सोचते थे कि वह उनकी बहुत बड़ी हितैषी है। दुष्टों का ऊपरी व्यवहार बड़ा मीठा होता है। मन में वे दूसरों का बुरा सोचते हैं, पर बाहर से यही दिखाते हैं कि उनके जैसा हितैषी धरती पर दूसरा नहीं है। अपनी लच्छेदार बातों से वे दूसरों को लुभा लेते हैं। सीधे-सादे उनकी बातों से प्रारंभ में तो प्रभावित हो ही जाते हैं। यह तो बहुत बाद में पता लगता है कि वे कितने धूर्त हैं।

जंगल के सीधे-सच्चे अनेक जानवर धूर्ता लोमड़ी के मित्र बन गए। वे उससे सदा अच्छा व्यवहार करते, समय-असमय उसकी सहायता करते। धूर्ता की अब तो सबसे गहरी छनती थी। सुंदर नाम के खरगोश से वह उसकी बड़ी प्रशंसा करती। कहती—"ओह ! मेरे नन्हे से भाई ! जैसा तुम्हारा नाम है वैसे ही तुम सुंदर हो। तुम्हारा

रंग चाँद जैसा है। तुम्हारी गुलाबी आँखें कमल के फूल जैसी हैं। तुम्हारे दाँत मोती जैसे हैं।"

सुंदर उसकी बात सुनकर लजा जाता और कहता—"बस करो दीदी, बस करो। तुम तो पूरी कवयित्री ही बन गई हो। कैसी बढ़ा-चढ़ाकर बात कर रही हो ?"

धूर्ता बड़ी ही मुग्धता से उसे देखते हुए कहती—"मेरे प्यारे राजा भैया ! हम अपनी अच्छाई और बुराई स्वयं उतनी अच्छी तरह नहीं जानते हैं जितना दूसरे जानते हैं। मैं भला तुम्हें कैसे न जानूँगी ?"

सुंदर आँख बंद करके धूर्ता की बातों पर विश्वास कर लेता था। वह बड़ा ही सरल हृदय, दुनियादारी से दूर था। छल-कपट वह जानता ही न था। सुंदर के घर-कुनवे के बुजुर्गों को सुंदर की धूर्ता से यह गहरी दोस्ती अच्छी न लगती थी। वे उसे बार-बार समझाते कि लोमड़ी से इतनी अधिक घनिष्ठता अच्छी नहीं। पर उस धूर्ता ने तो अपनी रसीली बातों से सुंदर को मानो पागल-सा ही बना रखा था। वह सुंदर तो उस पर अविश्वास की कोई बात भी नहीं सोच सकता था।

जंगल के जीव-जंतुओं पर अपना विश्वास जम जाने पर उधर धूर्ता अंदर ही अंदर दूसरे गुल खिला रही थी। जब भी मौका मिलता वह छोटे-मोटे जीवों पर हाथ साफ करने से न चूकती। एक बार एक मुर्गी अपने चार बच्चों के साथ कहीं आती हुई धूर्ता को मिली। "कहाँ जा रही हो बहिन सुबह ही सुबह ?" धूर्ता बड़े प्यार से बोली।

"क्या करूँ बहिन ! मेरी माँ बीमार है। वे दूसरे जंगल में रहती हैं। उन्हीं को देखने जा रही हूँ। ये बच्चे घर पर रुके ही नहीं थे। जबरन मेरे पीछे चले आए हैं। इनके कारण जल्दी नहीं चल पा रही हूँ।" मुर्गी कहने लगी।

"कोई बात नहीं, इन्हें मेरे यहाँ छोड़ दो। आराम से खेलते-कूदते रहेंगे।" धूर्ता बोली।

मुर्गी को भी उसकी बात जँच गई। बेकार ही धूप-ताप में क्यों बच्चों को परेशान करे ? वह खाने-पीने की चीजों का लालच देकर दो छोटे बच्चों को धूर्ता के यहाँ छोड़ गई।

शाम को मुर्गी जब बच्चों को लेने धूर्ता के यहाँ आई तो उसे धूर्ता की बड़े जोर-जोर से रोने की आवाज आई। "ओह ! न जाने क्या अनिष्ट हो गया ?" यह सोचकर वह अंदर दौड़ी चली गई। धूर्ता अपनी छाती को पीट-पीटकर रो रही थी। मुर्गी को देखते ही तुरंत वह और जोरों से फफक उठी और बोली—"लो बहिन ! सँभालो अपने इस बच्चे को। मैं बड़ी देर से इसे चिपकाए हुए बैठी हूँ। मेरा काम तो पूरा हुआ। अब मैं तो चली अपनी गलती का ही फल पाने।"

मुर्गी के मुँह से अचानक निकला कैसी गलती ? कहाँ चली ? दूसरा बच्चा कहाँ है ?

यह सुनकर लोमड़ी सिर पर हाथ मारकर रो उठी। आँसू बहाते हुए बोली—"हाय ! मैं तो तुम्हें मुँह दिखाने के लायक भी न रही। इसलिए ही तो मैं जा रही हूँ। शेर के सामने जाकर बैठ जाऊँगी। वह मुझे खा लेगा और मेरी गलती का दंड मुझको मिल जाएगा। मैं हूँ ही इस योग्य।"

मुर्गी कुछ समझ न पा रही थी। "आखिर बात क्या है ? साफ-साफ बतलाओ।" वह बोली।

धूर्ता रोते-रोते बतलाने लगी—"सारे दिन मैं दोनों बच्चों को खिलाती रही। शाम को उन्हें प्यास लगने पर ताजा पानी लेने नदी की ओर गई। मैं जब लौटी तो एक बच्चे का कहीं पता न था। सारे जंगल में ढूँढ़-ढूँढ़कर थक गई, पर वह नहीं मिला। बहिन तुम भी मन में न जाने क्या-क्या सोचोगी ? अब तो मेरा मर जाना ही ठीक है।" कहते हुए धूर्ता गुफा के द्वार से बाहर जाने लगी।

मुर्गी ने उसे बड़ा ही समझाया-बुझाया। बोली—"दीदी ! तुम्हारी कोई गलती नहीं। फिर तुम क्यों भला इतना बड़ा दंड भुगतोगी ?

अभी हम सब मिलकर चलेंगे और बच्चे को ढूँढ़ेंगे। फँस गया होगा वह कहीं झाड़ी-बाड़ी में।"

बड़ी कठिनाई से धूर्ता को मरने से रोका जा सका। मुर्गियों की पूरी की पूरी फौज बच्चे को तलाशते-तलाशते थक गई। उन्हें निराश ही होना पड़ा। अंत में मुर्गी बोली—"हो सकता है भटककर कहीं गुफा में चला गया हो। अब तो अंधेरा भी घिर आया है। दिन निकलने पर शायद वह अपने आप रास्ता खोजता हुआ आ जाए।"

पर बच्चे को न आना था और न आया। आता भी कहाँ से ? वह तो धूर्ता के पेट की गुफा में पहुँच गया था।

इसी प्रकार धूर्ता जब भी छोटे बच्चों को अकेले रास्ता चलते देखती तो वह उन्हें बहला-फुसलाकर एकांत में ले जाती और मौका देखकर सटक जाती। ऐसा वह कई बार कर चुकी थी, पर जंगल के जीवों को उसकी यह चालाकी पता भी क्या थी ? वे तो उस पर विश्वास करते थे।

एक दिन की बात है। सुंदर अपने बच्चों के लिए रसभरी तोड़ रहा था। तभी उसे अचानक कुत्तों की आहट मिली। उसने जल्दी से नजर उठाकर देखा तो कुछ ही गज की दूरी पर दो शिकारी कुत्ते खड़े थे। सुंदर ने आव देखा न ताव। रसभरी वहीं छोड़कर वह वहाँ से जान बचाकर अंधाधुंध भागा। शिकारी कुत्ते भी उसके पीछे दौड़े। सुंदर ने अपनी चाल और भी तेज कर दी, पर जल्दी में उसे ठोकर लगी और वह कुएँ में गिर पड़ा। संयोगवश वह कुँआ सूखा था। सुंदर छिपकर उसी में बैठ गया। शिकारी कुत्तों के आगे बढ़ने की आहट आ गई थी, पर सुंदर का दिल इतने जोरों से धड़क रहा था कि वह हाथ-पैर पसारकर वहीं लेट गया। साथ ही उसे यह भी डर था कि कहीं शिकारी कुत्ते वापिस न लौट आएँ। अतएव सुंदर ने दो-चार घंटे वहीं रुकना ठीक समझा।

संयोग की बात कि थोड़ी देर बाद धूर्ता लोमड़ी भी उसी कुँए के किनारे आ गई। बात यह थी कि वह कुँआ जंगल से बहुत दूर बिल्कुल एक दूसरे कोने पर था। वहाँ कोई जानवर कभी आता-जाता

न था। क्योंकि शिकारियों का डर लगातार बना रहता था। सुंदर ने सुना कि कोई कह रहा है—"मेरी प्यारी धूर्ता ! बताओ तुमने यहाँ आकर क्या किया है ?"

धूर्ता कह रही थी—"आखिर हूँ तो मैं तुम्हारी ही पत्नी। तुम्हारे ही जैसी बुद्धिमान। यहाँ पर सभी जानवर मेरा बहुत ही विश्वास करते हैं। बस हमारा काम हो चुका है, तुम्हारे आने भर की देर थी। कल से रोज हमारी दावत होगी। यहाँ के खरगोश बड़े ही स्वादिष्ट हैं। दो-चार तो मैंने चख भी लिए हैं। बस, कल से सबसे पहले खरगोशों पर ही हाथ साफ करेंगे।"

सुंदर को अपने कानो पर विश्वास न हुआ। वह मन ही मन कहने लगा—"नहीं ! यह मेरी धूर्ता दीदी नहीं हो सकती। यह तो कोई और लोमड़ी होगी ?" पर आवाज पर वह कैसे अविश्वास ही करता। वह तो बिलकुल धूर्ता की ही लग रही थी। वह कुछ साहस करके धीरे-धीरे छिपकर कुँए की दीवार के ऊपर तक चढ़ा और जरा-सा सिर बाहर निकालकर झाँका। उसने आँखें फाड़-फाड़कर देखा। सामने उसकी ही धूर्ता दीदी बैठी थी। अब अपनी आँखों और कानों पर अविश्वास करने की कोई बात ही न थी। वह चुपचाप कुँए में नीचे उतर आया। अब यह सब देखकर तो उसका विश्वास चूर-चूर हो गया था। विश्वासघात की पीड़ा उसके हृदय को मथे दे रही थी। हताश स्वर में बुदबुदाया—"हे ईश्वर ! तेरा लाख-लाख धन्यवाद कि समय रहते मेरी आँखें खुल गईं। नहीं तो मैं अपनी पूरी जाति के विनाश का कारण बनता।"

लोमड़ी और लोमड़ा जब वहाँ से चले गए तो सुंदर भी कुँए से निकला। उसने जो कुछ देखा और सुना था वह सभी को जाकर बता दिया। धूर्ता की धूर्तता एक न एक दिन तो खुलनी ही थी। अपने कृत्रिम व्यवहार से शुरू में तो औरों का सम्मान प्राप्त कर लेता है, पर जैसे ही सच्चाई खुलती है तो उसे घृणा और तिरस्कार ही मिलता है। फिर न उसे कोई अपना मित्र बनाता है, न उसकी बातों पर विश्वास करता है।

सुंदर की बात सुनकर सभी खरगोश चिंता में पड़ गए थे। वे सोचने लगे कि चालाक धूर्ता जंगल के सीधे-सच्चे जीवों को न जाने कब और कैसे धोखा दे दे। "इस धूर्ता को तो अब मरवाना ही ठीक रहेगा।" खरगोशों का मुखिया बोला।

खरगोश, मेंढक, मुर्गा आदि की एक लम्बी सेना लेकर वे सभी एक दयालु भालू के पास पहुँचे। उनकी बात सुनकर भालू को भी बहुत गुस्सा आया। वह बोला—"क्या तुम यह सिद्ध कर सकोगे कि धूर्ता अपराधी है ?"

"हाँ ! हम आपको उसकी धूर्तता दिखा देंगे।" सुंदर खरगोश और उसके साथी बोले।

"ठीक है तभी मैं उसे दंड दे सकता हूँ। मैं निरपराधी पर या जल्दी में किसी पर हाथ नहीं उठाता।" भालू ने कहा।

सुंदर और उसके साथी बैठकर सोचने लगे कि किस प्रकार धूर्ता के छल का भंडाफोड़ किया जाए। आखिर उन्होंने एक उपाय सोच ही लिया।

दूसरे दिन भालू दादा को लेकर अनेक प्राणी धूर्ता के घर की ओर बढ़ चले। वे चुपचाप जाकर इधर-उधर उसके घर के बाहर झाड़ियों में छिप गए। भालू दादा को ऐसी जगह खड़ा किया गया जहाँ से धूर्ता के घर के अंदर का सारा भाग अच्छी तरह से दिखाई देता था।

योजना के अनुसार सुंदर के छोटे-छोटे दोनों बच्चों ने लोमड़ी का द्वार खटखटाया। "अरे ! मीनू-चीनू तुम अकेले-अकेले कैसे चले आए इधर ?" लोमड़ी तुरंत दरवाजा खोलते ही कुछ आश्चर्य में पड़कर बोली।

"बुआजी ! आज हम बिना किसी को कुछ बतलाए ही अकेले घूमने निकले हैं। अब हम बड़े हो गए हैं, हमें अकेले कुछ घूमना ही चाहिए।" मीनू गर्व से अपना सीना फुलाकर बोला।

धूर्ता ने भी दाँत निकालते हुए कहा—"हाँ भतीजे ! सो तो है ही। माता-पिता तो हमेशा टोकते ही रहते हैं। उन्हें अपने बच्चे हमेशा छोटे ही दिखाई देते हैं।"

"बुआजी ! आज तो हम शाम तक आपके यहाँ ही रहेंगे।" मीनू-चीनू कहने लगे।

"खुशी से रहो बेटा, यह तुम्हारा घर है।" धूर्ता बोली। उसके मुँह में पानी आ रहा था। घर बैठे बिना कुछ किए आज उसकी दावत हो रही थी।

थोड़ी देर तक धूर्ता मीनू-चीनू को इधर-उधर की बातों में बहलाती रही। फिर चीनू से बोली—"मैंने तुम्हारे लिए गाजर रखी है। जाओ उस कोने में जाकर उठा तो लाओ।"

चीनू के जाते ही धूर्ता ने मीनू की गर्दन पकड़ ली। जैसे ही वह उसे मुँह में रखने वाली थी कि भालू दादा खिड़की तोड़कर अंदर घुस आए और उन्होंने पीछे से धूर्ता की गर्दन दबोच ली। धूर्ता ने बहुत कोशिश की, पर भालू की मजबूत पकड़ से अपने को छुड़ा न पाई। वह रोते-रोते बोली—"मैंने क्या गलती की है ? मुझ निर्दोष को छोड़ दो, न सताओ। भालू भैया तुम तो माँस नहीं खाते फिर मुझे क्यों मारते हो ?"

भालू उसे और भी जोर से मसलते हुए, गुस्से में आँखें लाल करके बोला—"धूर्त लोमड़ी ! शर्म नहीं आती यह कहते हुए कि तू निर्दोष है ! बता मीनू की गर्दन से खून कैसे निकला ? मुर्गी का वह बच्चा कहाँ गया ? हमारे और अनेक प्यारे बच्चे कहाँ गए ?"

"मुझे छोड़ दो। मुझे कुछ नहीं मालूम। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।" धूर्ता यह कहकर रिरियाने लगी।

भालू ने जोर से कहा—"हूँह ! दूसरों को धोखा देकर तू तभी तक चैन से रह सकती थी जब तक तेरी पोल न खुलती। पोल खुलने पर तो तुझे दंड मिलेगा ही। दूसरों को धोखा देने वाला यह नहीं सोचता कि वह वास्तव में अपने आप को ही धोखे में रख रहा है। उसकी करनी कभी न कभी तो सबके सामने आएगी ही। तुझे

तेरे विश्वासघात का फल मिलना ही चाहिए, जिससे कि तुम अंतर्मन से अपनी नीचता स्वीकार करे और अपने कुकर्मों के लिए अपने आपको धिक्कारे। दुष्ट ! मरते समय तो अपने आप को धोखे में मत रख, अब तो सच्चाई को स्वीकार कर ले।" ऐसा कहते-कहते भालू ने लोमड़ी का पेट चीर दिया।

भालू ने खरगोशों को भी बहुत डाँटा। वह कहने लगा—"तुम्हारे पूर्वज तो बहुत बुद्धिमान थे, पर तुम कैसे मूर्ख हो। क्यों किसी की बात पर आँख-कान बंद करके विश्वास करते हो। दुनियाँ में धूर्तों और स्वार्थियों की कमी नहीं है। कभी किसी को बिना परखे उस पर अति विश्वास न करो। ऐसा करोगे तो पग-पग पर ठोकर ही खाओगे।"

"प्यारे मित्र ! आप ठीक कहते हैं। आपने हमारी आँखें खोल दी हैं।" सुंदर ने धीमे स्वर में कहा। सभी ने भालू को अनेक धन्यवाद दिए। उसी के कारण आज वे बहुत बड़ी मुसीबत से बचे।



सुनंदा का बड़प्पन

रावी नदी के किनारे एक बड़ा पेड़ था। उस पर दो पक्षी रहा करते थे—सुनंदा नाम की एक चील और प्रेमा नाम की एक चिड़िया। यों उस वृक्ष पर अनेक पक्षी थे, परंतु एक भयंकर तूफान में वे सभी मर गए थे।

सुनंदा बड़ी थी और गंभीर भी। वह बोलती भी बहुत कम थी। बेकार की बक-झक करना, एक-दूसरे की बुराई करना उसे तनिक भी पसंद न था। वह सोचती थी कि व्यर्थ बोलने से, अधिक बोलने से शक्ति ही नष्ट होती है।

प्रेमा छोटी थी और चंचल भी। उसकी एक आदत यह भी थी कि उससे चुप न रहा जाता था। सारे दिन कुछ न कुछ बोलती ही रहती थी। वह हमेशा काम कम करती थी और बातें अधिक से अधिक करती थी।

दिन में तो सुनंदा और प्रेमा साथ-साथ कम ही बैठती थीं। सुबह होते ही उड़ जातीं दाना-पानी की खोज में। दोनों हारी-थकी शाम को ही लौट पातीं।

दोनों एक ही डाल पर पास-पास बैठ जातीं। सुनंदा चुप ही बैठी रहती, वह दिन भर की घटनाओं के बारे सोचती कि कहीं उससे आज कुछ गलत तो नहीं हुआ था। उसने अपने लिए किसी को सताया तो नहीं था। परंतु चंचल प्रेमा का मन होता कि खूब बोले, खूब बातें करके दिन भर की थकान दूर ले, पर बातें किससे करती ? सुनंदा तो अधिकतर चुप ही रहती थी। प्रेमा जो भी कुछ कहती उसका सुनंदा संक्षेप में उत्तर देकर फिर चुप हो जाती।

सुनंदा की कम बोलने की आदत प्रेमा को बड़ी बुरी लगती। वह मन ही मन उसे मनहूस-घमंडी कहती। वह अपने आप से ही

कहती—"इससे तो अच्छा था यह न होती। मैं अकेली ही भली थी। वह जहाँ जाती, सुनंदा की बुराई करती।

पर प्रेमा का यह भ्रम जल्दी ही टूट गया। आवश्यक नहीं कि दूसरे के बारे में जैसा सोचते हैं वैसा ही हो। अवसर आने पर ही व्यक्ति की अच्छाई-बुराई का पता लगता है।

एक दिन प्रेमा बैठी सुनंदा से बातें कर रही थी, जैसी कि उसकी आदत थी। बातें करते समय वह भूल गई थी कि उसके आस-पास क्या हो रहा है ? सुनंदा चौकन्नी बैठी थी, प्रेमा अपनी बात पूरी भी न कर पाई थी कि अचानक ही सुनंदा ने उसे धक्का दे दिया। प्रेमा डाल से गिर पड़ी, पर गिरते ही सँभल गई। "यह क्या पागलपन है ?" वह जोर से चीखी और ऊपर की ओर उड़ आई, पर सुनंदा भी उस पहले वाली डाल पर नहीं थी। "आज मैं तुम्हें छोड़ूँगी नहीं" सोचती हुई प्रेमा उसे खोजने लगी। सहसा ही उसकी निगाह पेड़ की सबसे ऊपर वाली डाल पर गई जहाँ सुनंदा बैठी थी। वह गुस्से में भरकर वहीं उड़ चली और तमतमाती हुई बोली—"लगता है तुम्हें व्यवहार करना सिखाना पड़ेगा। तुम बड़ी हो, इसका मतलब यह तो नहीं कि उल्टा-सीधा, गलत-सलत कुछ भी करो, बदतमीज कहीं की ।"

प्रेमा अभी और भी न जाने क्या-क्या कहती, पर सहसा ही उसकी निगाह सुनंदा के पंख से बहते खून पर पड़ी। "यह क्या ?" प्रेमा ने गुस्से की स्थिति में पूछा। सुनंदा ने नीचे की ओर इशारा किया। प्रेमा यह देखकर काँप उठी कि वहाँ तीर-कमान लिए खड़ा एक शिकारी उन्हीं को खोज रहा है।

क्षण भर में ही प्रेमा की समझ में सारी बातें आ गईं। "ओह ! तो तुमने मुझे बचाने के लिए ही जोर से धक्का दिया था ?" वह पूछने लगी।

"हाँ ! उस समय तुम्हें बचाने का और कोई उपाय ही न था।" सुनंदा गंभीर स्वर में बोली।

प्रेमा अपनी गलती को सोच-सोचकर दुःख से काफी भर उठी। उसने सबसे पहले तो सुनंदा के खून बंद करने का उपाय किया। खून बंद होने पर हाथ जोड़कर बोली—"दीदी ! मुझे माफ कर दो। मैं भी कैसी पागल हूँ कि गुस्से में न जाने क्या-क्या बक-झक कर जाती हूँ।"

सुनंदा बोली—"तुम मुझसे छोटी हो। मैंने तो सदैव तुम्हें माफ ही किया है। मेरी तो कोई बात नहीं, पर दूसरों से बोलते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि हम क्या कह रहे हैं। ध्यान रखो कि हम जो भी कुछ बोलते हैं उसका दूसरों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। एक बार मुँह से निकले शब्दों को फिर लौटाया नहीं जा सकता, माफी माँगकर भी नहीं।"

"दीदी ! मैं क्या करूँ ? बहुतेरा सोचती हूँ कि तुम्हारी सीख के अनुसार चलूँ। तुम मुझे बार-बार माफ कर देती हो, दूसरे थोड़े ही करेंगे। पर जब-जब गुस्सा आता है तो अपने आप को ही भूल जाती हूँ।" प्रेमा बोली।

सुनंदा समझाने लगी—"यही तो ध्यान देने की बात है। यही तो मन का संयम है। यदि हम अपनी गलत आदत को छोड़ने का ध्यान नहीं रखेंगे, अपने आप पर नियंत्रण नहीं रखेंगे तो वह कभी छूट ही नहीं सकती।"

प्रेमा सिर हिलाते हुए बोली—"हाँ ! बात तो तुम्हारी बिलकुल ठीक है।" फिर वह सुनंदा के पंखों को सहलाती हुई बोली—"दीदी ! एक बात पूँछूँ, बुरा तो न मानोगी ?"

"पूछो-पूछो !" सुनंदा ने सहमती से सिर हिलाया।

वह बोली—"तुम यों तो मुझसे ठीक से बातें भी नहीं करतीं, पर मेरे लिए तो तुमने अपने प्राण भी संकट में यों ही डाल दिए। ऐसा क्यों ?"

सुनंदा समझाने लगी—"देखो प्रेमा ! मित्र की परख बातों से नहीं होती। मित्र की पहिचान होती है अवसर आने पर उसके काम से। मित्र की सच्ची पहिचान होती है किसी भी संकट की घड़ी में।

सच्चा मित्र बातें नहीं बनाता, अवसर पर सहायता के लिए सबसे आगे खड़ा मिलता है।"

"तुम ठीक ही कहती हो दीदी। आज की इस घटना ने मुझे जीवन भर के लिए ही सबक दे दिया है।" कहते हुए प्रेमा सुनंदा के गले से लिपट गई।



साहसी बालिका

कुटीर विद्यालय नगर के मध्य में था। रुचि और उसकी छोटी बहिन शुचि इसी विद्यालय में पढ़ती थीं। रुचि सात वर्ष की थी और तीसरी कक्षा में पढ़ती थी, जब कि शुचि तीन वर्ष की थी और उसने कुछ महीने पहले ही विद्यालय में पढ़ने के लिए जाना प्रारंभ किया था।

एक दिन की बात है, रुचि शुचि की अँगुली पकड़कर विद्यालय के फाटक में घुस ही रही थी, तभी पीछे से एक व्यक्ति आया और बोला—"रुचि ! तुम्हारे पिताजी तुम्हें बुला रहे हैं।"

"कहाँ हैं पिताजी ?" रुचि पीछे मुड़ते हुए बोली।

उस आदमी ने रुचि की बाँह पकड़कर दूसरी ओर खींचते हुए कहा—"देखो ! तुम्हारे पिताजी वहाँ खड़े हैं।"

थोड़ी दूर चलने के बाद वह बोला—"पिताजी कह रहे थे कि तुम्हारे कुंडल सुनार को देकर बदलवाने हैं। लाओ, अपने कुंडल मुझे दे दो। तुम्हारे पिताजी ने ही मुझे भेजा है।"

"नहीं ! मैं कुंडल नहीं दूँगी।" रुचि बोली

"तो फिर अपने पिताजी को ही देना। उन्होंने तुम्हें इसीलिए बुलवाया है।" वह अपरिचित बोला।

अब रुचि का माथा ठनका। उसे लगा कि जरूर दाल में कुछ काला है। उसके पिताजी प्रायः कहा करते थे कि ठग बच्चों को बहकाकर ले जाते हैं। वे उनके गहने उतार लेते और बच्चों को बेच देते हैं। रुचि का दिल जोर से धक-धक करने लगा, पर दूसरे ही पल उसने सोचा कि मुझे पिताजी की शिक्षा के अनुसार साहस से काम लेना चाहिए। मैं यदि इसके सामने जरा भी घबराऊँगी तो यह मुझ पर हावी हो जाएगा।

इस समय वे एक सुनसान गली में थे। जैसे वे एक कुँए के पास आए तो व्यक्ति आँखें निकालकर बोला—"लाओ ! अपने कुंडल उतारो।"

"नहीं उतारूँगी।" रुचि जोर से बोली।

"तो मैं तुम्हें अभी उठाकर कुँए में फेंकता हूँ।" ऐसा कहकर वह रुचि की ओर बढ़ा। साथ ही उसने झटके से रुचि के कान से कुंडल खींच लिया। खून की धार बह उठी। तभी रुचि की निगाह गली के मोड़ पर जाते दो युवकों पर पड़ी। वह अपना पूरा जोर लगाकर चिल्लाई—"भाई साहब, ओ भाई साहब !"

किसी बच्चे की घबराई हुई पुकार सुनकर उन युवकों ने पीछे मुड़कर देखा। वह व्यक्ति भागने लगा, पर रुचि ने तुरंत दौड़कर उसका पैर कसकर पकड़ लिया। तब तक दोनों युवक भी वहाँ आ गए। उन्होंने उस आदमी की गर्दन पकड़ ली। अब उसका भागना मुश्किल हो गया। तब तक वहाँ और भीड़ जुड़ आई थी। सभी ने उसे थप्पड़-जूतों से मारना शुरू कर दिया। वह रिरियाते हुए कह रहा था—"मुझे छोड़ दो ! मैंने कोई गलती नहीं की है ?"

"गलती की है या नहीं, यह तो तुझे थाने जाकर पता लगेगा।" कहते हुए एक आदमी ने उसके गाल पर कसकर तमाचे लगाए। इससे उसके मुँह में रखा हुआ रुचि का कुंडल छिटककर दूर जा पड़ा। "वह रहा मेरा कुंडल !" रुचि जोर से चिल्लाई।

"अब भी कह कि तेरी कोई गलती नहीं है। हम ही मूर्ख हैं जो बिना बात तेरे पीछे पड़े हैं।" कहते हुए एक आदमी ने उसे थाने की ओर धक्का दिया। अब उस व्यक्ति के सामने और कोई उपाय ही न था। भीड़ ने उसे मारते-पीटते थाने में ही ले जाकर दम लिया। थानेदार ने भी पूरी बात सुनकर उसकी पिटाई की और हवालात में बंद कर लिया। सभी ने रुचि की प्रशंसा की। उसने साहस और बुद्धि से काम लेकर अपना बचाव तो किया ही था, साथ ही अपराधी को पकड़वा दिया था।



चटोरा रंजन

रंजन अपने माता-पिता का इकलौता बेटा था। उससे बड़ी चार बहिनें थीं। बड़ी मनौतियों के बाद वह पैदा हुआ था। इसलिए माता-पिता ने बचपन से ही उसे बहुत लाड़-प्यार दिया था। रंजन के मुँह से बात निकलने की देर न होती और वे उसे पूरा करने में जुट जाते। रंजन के कारण उसकी बहिनों को भी काफी डाँट खानी पड़ती। बचपन से ही यह देख-सुनकर रंजन बड़ा उद्दंड हो गया। वह अपनी जिद के आगे किसी की एक न सुनता। माता-पिता सोचते कि अभी तो बच्चा है, बड़ा होकर अपने आप सुधर ही जाएगा, परंतु वे यह भूल जाते थे कि बाल्यावस्था ही बालक के निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण समय है। इस समय को वे जो भी कुछ सिखाएँगे तो वही संस्कार, वही आदतें आगे के जीवन में विकसित होंगी।

कुछ बड़े होने पर रंजन स्कूल जाने लगा। उसका मन पढ़ाई में कम लगता था तथा खेलकूद और शरारत में अधिक। वहाँ पक्षपात करने वाले माता-पिता तो थे नहीं। गलत काम करने पर रंजन के अध्यापक उसे डाँटते। रंजन उनसे तो कुछ न कह पाता था, परंतु वह अपने साथियों को तंग करता। जो बच्चे पढ़ाई में अच्छे थे उन्हें अध्यापक प्यार करते थे, परंतु रंजन उनसे चिढ़ता था और किसी न किसी प्रकार उन्हें तंग करता रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अच्छे बच्चे रंजन से कतराने लगे। पढ़ने में कमजोर, कामचोर, शरारती और उद्दंड बच्चे ही रंजन के दोस्त थे।

संगत का असर बहुत ही जल्दी पड़ता है। बच्चा तो अपने भले-बुरे साथियों की पहिचान कर नहीं पाता। यही कारण है कि समझदार अभिभावक सदैव यह ध्यान रखते हैं कि उनका बालक कहीं बुरी संगति में तो नहीं पड़ गया। जो ऐसा नहीं करते वे अंत में पछताते हैं। रंजन के माता-पिता ने उसे पढ़ाने के लिए घर पर एक

अध्यापक रख दिया था। बस इससे अधिक उन्हें उसकी पढ़ाई-लिखाई या स्कूल के काम से कोई मतलब ही न था। वे तो सोचते थे कि घर पर अलग से शिक्षक रखकर वे अपने बेटे को बहुत अच्छी तरह पढ़ा रहे हैं। जबकि माता-पिता को बालक के व्यवहार, चरित्र पर स्वयं अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए।

रंजन स्कूल में तो जैसे-तैसे कक्षाएँ उत्तीर्ण करके आगे बढ़ता गया, परंतु अपने साथियों में रहकर उसने बहुत-से दुर्गुण अपना लिए। रंजन के साथियों को पता था कि माता-पिता उसकी हर जिद पूरी करेंगे। अतएव वे उसे घर से अधिक से अधिक पैसे लाने के लिए उकसाते। रंजन के पैसों से सभी मिल-जुलकर चाट खाते थे। रंजन में चटोरेपन की आदत पड़ गई। पिताजी यदि कभी उसे कम पैसे देते तो वह माँ के पर्स से चुरा लाता।

रंजन को घर का खाना अच्छा नहीं लगता था। घर पर भी वह बाजार की चीजें खाने की जिद करता रहता। माँ यदि उसकी मनपसंद चीजें नहीं मँगाती तो वह जिद करके भूखा ही सो जाता। यह देखकर उनका मन दुःखी होता और रंजन जो कहता वह मँगा देतीं। वे सोचती कि कुछ न खाने से अच्छा यही है कि बच्चा अपनी मनचाही चीज ही थोड़ी खा ले, पर वे यही भूल कर गईं, क्योंकि शरीर के लिए न खाना उतना हानिकर नहीं है जितना कि उल्टी-सीधी चीजों को खाना। भोजन भी ऐसा होना चाहिए जो हमारे स्वास्थ्य को बढ़ाए।

रंजन के चटोरेपन का परिणाम भी जल्दी ही सामने आ गया। उसका जिगर बढ़ गया और सूखे की बीमारी हो गई। जब डाक्टरों ने घर पर इलाज न होने से जवाब दे दिया तो उसे अस्पताल में ही दाखिल करना पड़ा। डाक्टरों ने बहुत कोशिश करने पर उसकी वह बीमारी काबू में आई। जैसे ही वह ठीक हुआ तो फिर चाट-पकौड़े और पकवान खाने की जिद करने लगता, परंतु रंजन की माँ को डाक्टरों ने अच्छी तरह समझा दिया था कि रंजन की बीमारी का कारण उसका चटोरापन ही है। यदि अब वे उससे परहेज न

कराएँगी तो फिर वह कभी ठीक नहीं हो पाएगा। अब रंजन की माँ को अपनी गलती का पता हो गया था। उन्होंने बाहर की चीजें खाने पर कठोरता और सख्ती से प्रतिबंध लगा दिया। अपनी बात पूरी न होते देख रंजन की जिद भी कम हो गई। अब वह जल्दी ही ठीक होने लगा।

अस्पताल में रंजन के पलंग के बराबर में ही उसका ही हम उम्र का एक बालक था। रंजन की भाँति वह भी बहुत चटोरा था। रंजन देखता था कि जैसे ही वह अकेला रह जाता था तो मनमानी चीजें खाता। रंजन उससे मना करता तो कहता—"डाक्टरों की क्या है, ये तो ऐसे ही कहते रहते हैं। हम तो जो मन में आएगा वह खाएँगे। और क्या है, मर ही तो जाएँगे।"

रंजन को उसने सख्त मना कर दिया था कि उसके अभिभावकों से इस विषय में वह कुछ न कहे। रंजन को भी उनसे यह कहना अच्छा न लगा। कभी-कभी उसका भी मन होता कि वह भी मिर्च-मसालेदार चीजें खाए, पर उसकी निगरानी के लिए कोई न कोई बैठा ही रहता। रंजन मन मसोसकर रह जाता। कभी-कभी उसे अपने घर वालों पर गुस्सा भी आता कि क्यों हर समय उसे घेरे बैठे रहते हैं, पर वह कह भी क्या सकता था ?

लेकिन जल्दी ही रंजन की समझ में इसका कारण आ गया। कुछ ही दिनों में उसका साथी प्रबोध बुरी तरह बीमार पड़ गया। बदपरहेजी से उसका पीलिया बहुत बिगड़ गया था। उस पर बेहोशी छा गई। उसके माता-पिता घबरा ही उठे। पहले तो डाक्टरों की समझ में न आया कि ठीक होते-होते वह बीमार कैसे पड़ गया, पर जब उसकी बदपरहेजी की बात पता लगी तो उन्होंने उसके माता-पिता को खूब डाँटा। वे डाक्टरों के सामने यह गिड़गिड़ा रहे थे—"डाक्टर साहब ! माफ कीजिए, गलती हुई। अब की बार हमारे बच्चे को बचा लीजिए।"

प्रबोध के कई दिनों तक ग्लूकोज चढ़ाया गया, अनेक इन्जैक्शन लगाए गए तब जाकर उसे कुछ होश आया। रंजन की माँ

ने उसे दिखाते हुए कहा—"देख लिया रंजन की बदपरहेजी का परिणाम। यदि तली-भुनी, मिर्च-मसाले वाली चीजें, चाट-पकौड़े अधिक न खाओ तो बीमार ही क्यों पड़ो और क्यों अस्पताल आना पड़े। जो भी अपनी जीभ पर काबू नहीं रखेगा तो वह सदैव बीमार रहेगा और दुःख भुगतेगा।"

प्रबोध की गंभीर स्थिति का रंजन के मन पर गहराई से प्रभाव पड़ा था। उसने तभी सोच लिया था कि अब वह माँ के कहने के अनुसार खाएगा। रंजन जब ठीक होकर घर आया तो उसकी माँ उसके खाने का विशेष ध्यान रखती। तली-भुनी, गरिष्ठ तेज मिर्च-मसाले वाली चीजें अब वह घर में किसी को भी नहीं खाने देतीं। दूसरों को भी वे यही कहती हैं कि ऐसी चीजें खाने से पेट खराब होता है, रक्त विषैला बनता है और व्यक्ति बीमारियों के चंगुल में फँसता है। अच्छे स्वास्थ्य के लिए सादा और संतुलित भोजन अति आवश्यक है।



देशद्रोह का दंड

अभयारण्य में अग्निरूप नाम का एक सिंह रहता था। वह बड़ा ही उदार और प्रजा का हित करने वाला था। उसकी प्रजा उसे जी-जान से प्यार करती थी।

अग्निरूप बड़ा वीर था। आसपास के जंगलों के अनेक शेर तथा चीते उससे कई बार हार चुके थे। अन्य जिस किसी जानवर ने भी अग्निरूप से लड़ने का दुस्साहस किया था वह जीवित नहीं लौटा था। उसकी इस बहादुरी के कारण आसपास के जंगलों के जानवर बढ़ा चिढ़ते थे। उन्होंने कई बार उसकी प्रजा में विद्रोह कराने का प्रयास भी किया, पर वे असफल ही रहे। अग्निरूप की प्रजा अपने राजा पर इतना विश्वास रखती थी, इतनी समझदार थी कि अन्यों की बातों में ही न आती थी।

अग्निरूप को जब उसके शत्रु एक-एक करके नहीं हरा पाए तो उन्होंने कूटनीति से कार्य किया। उन सभी ने मिलकर अग्निरूप पर आक्रमण कर दिया। उन्हें पूरा विश्वास था कि इस बार युद्ध में वह जीत नहीं पाएगा, पर अग्निरूप और उसकी सेना इस बार भी इतनी कुशलता, साहस और बहादुरी से लडे़ कि उन सभी को हार कर मैदान छोड़कर भागना पड़ा।

अपनी पराजय से सभी जानवर और अधिक चिढ़ उठे। अब वे नीच से नीच काम करने के लिए भी तैयार हो गए। उन्होंने अपने चार-पाँच विश्वसनीय गुप्तचरों को बुलाया और आदेश दिया कि अग्निरूप के राज्य में पानी पीने के जितने भी स्थान हों उन सभी में चुपके से विषैली जड़ी-बूटियाँ मिला आएँ। अग्निरूप और उसके साथी या तो जहरीला पानी पीकर मरेंगे या फिर प्यास से तड़प-तड़पकर ही।

अग्निरूप भी कम कुशल शासक न था। हारा हुआ शत्रु क्या-क्या कर सकता है ? इसका अनुमान उसने पहले ही लगा लिया था। अग्निरूप ने पानी पीने के सभी स्थानों पर पहले से ही अपने कर्मचारी नियत कर दिए थे। उसके राज्य में पानी पीने के कुल चार बड़े स्थान थे। उन चारों पर बारी-बारी से प्रत्येक जानवर को पहरा देना पड़ता था। सभी को मालूम था कि यह कार्य कितना महत्वपूर्ण है ? अतएव वे सभी बड़ी सतर्कता और ईमानदारी से यह कार्य किया करते थे, परंतु उन जानवरों में चतुरा लोमड़ी ऐसी भी थी जो बड़ी कामचोर और लापरवाह थी। रखवाली करने की जब बारी आती तो कभी कोई बहाना करके चली जाती, कभी कोई। कभी विवश होकर उसे काम करना ही पड़ता तो बैठे-बैठे सोती रहती। एक दिन अग्नि रूप के मंत्री मुक्तक हाथी ने उसे इस प्रकार सोते हुए देख लिया। मुक्तक ने लोमड़ी को जगाकर बड़ा ही डाँटा, डाँटने की बात भी थी। एक की लापरवाही से सभी की जानें खतरे में पड़ जातीं। डाँटने के बाद गुस्से में भरकर मुक्तक चतुरा से बोला—"आज तो तुम्हारी गलती माफ कर दी जाती है, पर आगे से तुम प्रतिदिन काम पर आओगी तथा ईमानदारी और परिश्रम से ही काम करोगी।"

चतुरा मुँह से तो कुछ न बोली पर मन ही मन उसे मुक्तक का डाँटना बड़ा बुरा लगा। अपनी गलती मानने की अपेक्षा वह मुक्तक से ही चिढ़ गई। कुशल मुक्तक यह ताड़ गया, वह बोला—"चतुरा रानी ! अपनी गलती को स्वीकार करो और उसे सुधारने का प्रयास करो। यही जीवन की उन्नति का रास्ता है। यदि अपनी त्रुटि को स्वीकार नहीं करोगी और दूसरों की सही बात में भी दोष ढूँढ़ोगी तो जीवन में पछताना पड़ेगा।"

मुक्तक की बात से चतुरा और भी गुस्सा हो उठी। वह मुक्तक हाथी पर क्रोध भरी दृष्टि डालकर, मुँह फिराकर वह चुपचाप वहाँ से चली गई।

चतुरा के व्यवहार में अभी भी कोई अंतर न आया। वह तो पहले के समान ही काम में लापरवाही बरतती। अग्निरूप के सभी

गुप्तचरों ने उसकी कामचोरी की शिकायत की। आखिर एक दिन अग्निरूप ने चतुरा को बुलाकर कह ही दिया—"देखो ! काम करते हुए जीने में ही सार्थकता है। बिना परिश्रम किए खाने-पीने वाले को धिक्कार है। तुम कामचोरी करोगी तो दूसरे जानवर तुम्हें पानी क्यों पीने देंगे। जाओ, ईमानदारी और परिश्रम से काम करो। अब मुझे तुम्हारी कोई शिकायत सुनाई न दे।"

चतुरा को शेर की बात भी बुरी लगी। मन ही मन उसने कहा—"ओह ! इसे अपनी शक्ति का बड़ा अभिमान हो गया है। देखो तो कैसा ज्ञान बघार रहा है। इसे भी मजा न चखा दिया और इसका सारा घमंड चूर-चूर न कर दिया तो मेरा नाम भी चतुरा लोमड़ी नहीं।"

चतुरा शत्रुओं से जाकर मिल गई। उसने उन्हें अपने राज्य के सभी जल संस्थानों की पूरी जानकारी दे दी। साथ ही यह भी बता दिया कि वहाँ कब-किस जानवर की रखवाली रहती है और कैसे उन्हें आसानी से हराया जा सकता है। शत्रु चतुरा की जानकारी से बड़े प्रसन्न हुए। अब तो उन्हें पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि वे अग्निरूप और उसकी प्रजा को मारने में सफल हो जाएँगे। सच है कि एक देशद्रोही पूरे देश पर, देश की सुरक्षा और स्वाधीनता पर कलंक होता है।

योग्य शासक शत्रु की ओर से कभी असावधान नहीं रहता। साथ ही जिन नागरिकों से गद्दारी का भय रहता है उन पर भी वह कड़ी निगाह रखता है। अग्निरूप के गुप्तचर भी चतुरा के विषय में पूरा विवरण भेजते रहते थे। उसके शत्रु-पक्ष से जा मिलने की बात से ही अग्निरूप सतर्क हो गया था।

एक रात जब कि चतुरा शत्रुओं के साथ मिलकर पानी में विषैली जड़ी-बूटियाँ मिलवा रही थी, अग्निरूप के सैनिकों ने उसे जा पकड़ा। सतर्क शत्रु तो खतरे का आभास होते ही भाग छूटे, पर चतुरा लोमड़ी पकड़ी गई।

चतुरा को तुरंत ही अग्निरूप के सामने ले जाया गया। पूरी बात जानकर अग्निरूप क्रोधित हो उठा। वह भयंकर गर्जना करते हुए बोला—"दुष्ट बिना दंड के नहीं सुधरता। इस देशद्रोही को तो जितना दंड मिले उतना ही कम है।"

फिर शेर ने उस लोमड़ी की पूँछ पकड़कर उसे जमीन पर दे पटका। लोमड़ी की पूँछ उखड़कर सिंह के हाथ में आ गई। फिर वह उसे भूमि पर पटकते हुए बोला—"जा तेरे प्राण नहीं लेता। अब की बार तुझे फिर छोड़ता हूँ। खबरदार ! जो फिर मेरे राज्य में पैर रखा। यहाँ आई तो जीते-जी नहीं जा पाएगी तू यहाँ से। अपनी कटी पूँछ को देखकर तू अपने देशद्रोह के पाप को याद ही करती रहना।" उस दिन के बाद से फिर पूँछकटी लोमड़ी को उस जंगल में किसी भी जानवर ने नहीं देखा।



भटकाव का अंत

फल्गु नदी के पास ही एक बड़ा तालाब था। वह देखता कि फल्गु दिन-रात बहती रहती, कभी आराम भी नहीं करती। उससे रहा न गया, एक दिन वह पूछ ही बैठा—"बहिन ! तुम निरंतर चलती हो। कहाँ जाती हो ? क्या करती हो ?"

फल्गु बोली—"तालाब भाई ! मैं जाकर गंगा में मिल जाती हूँ। हम दोनों मिलकर प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं। कहीं किसी की प्यास बुझाते हैं, कहीं खेतों को सींचते हैं, कहीं दूसरों को अपने शीतल जल में स्नान कराते हैं। स्थान-स्थान पर दूसरी नदियाँ भी हममें आकर मिल जाती हैं। फिर हम सब मिलकर गाते-हँसते हुए सागर तक की यात्रा करते हैं और अंत में हम सभी सागर में मिल जाते हैं।

यह सुनकर तालाब बोला—"दूसरों का उपकार करने के लिए ही तो तुम इतनी लम्बी यात्रा किया करती हो न ?"

"हाँ ! और क्या ?" फल्गु ने उत्तर दिया।

"तो फिर इसके लिए इतनी दूर जाने की, थकने की जरूरत भी क्या है ? औरों का उपकार तो हम घर बैठकर कर सकते हैं। मुझे देखो ! मुझसे न जाने कितने पेड़-पौधे, पशु-पक्षी लाभ उठाते हैं। क्या मैं परोपकारी नहीं हूँ ? पर तुम्हारी तरह दौड़-दौड़कर समय बर्बाद करना मूर्खता समझता हूँ। अरे ! जब हम घर बैठे ही दूसरों का कल्याण कर सकते हैं तो फिर भागने-दौड़ने की ही क्या आवश्यकता है ?" तालाब कहने लगा।

फल्गु ने अधिक बहस करना उचित न समझा। उसने हँसकर उसकी बात टाल दी और काम पर निकल पड़ी।

जब भी फल्गु पल दो पल सुस्ताने बैठती तो तालाब उससे यही बात दुहराता कि तुम्हारा इतना दौड़-दौड़कर थकना बेकार है। इस प्रकार तुम स्वयं कष्ट सहती हो और समय भी बर्बाद करती हो। फल्गु जब कभी इसके विरुद्ध कुछ कहती भी तो तालाब अपने अकाट्य तर्कों से उसकी बात काट देता। धीरे-धीरे फल्गु को भी तालाब की ही बात ठीक लगने लगी। अच्छे या बुरे जैसे भी संगी-साथियों में हम रहते हैं तो विचार भी अनायास धीरे-धीरे वैसे ही बन जाते हैं।

अब फल्गु ने गंगा की ओर बहना छोड़ दिया। उसने अपनी लहरों को उधर से सिकोड़ लिया। अब वह दिन-रात सुस्ताती। कुछ दिन तो आराम करना ठीक लगा, पर फिर जल्दी ही फल्गु उदास रहने लगी। निरंतर काम करते रहने की इच्छा फिर से बलवती होने लगी।

तालाब ने एक दिन फल्गु की उदासी का कारण समझा और बोला—"तुम मुझसे आकर मिल जाओ। हम दोनों मिलकर साथ-साथ काम करते रहेंगे।"

उदास फल्गु अब तालाब की ओर ही बढ़ने लगी। कुछ दूर तक तो वह खुशी-खुशी चली। वह मन ही मन नए ढंग से काम करने की योजना बनाती रही, परंतु तालाब से थोड़ी दूर रह जाने पर ठिठक कर खड़ी हो गई। उसने देखा कि तालाब जो दूर से बड़ा-सा लगता है, छोटा है। चारों ओर से उसका जल बँधा है। यही नहीं तालाब का पानी किनारों पर बड़ा गंदला हो गया है। वहाँ खूब-सी कीचड़ है जिसमें काई-शैवाल है।

"ओह ! मैं इससे जाकर मिल जाऊँगी तो मेरी भी यही स्थिति हो जाएगी।" फल्गु सोचने लगी। वह रुँआसी हो आई और मन ही मन कहने लगी—"हाय ! मैंने अपनी विवेक-बुद्धि से काम नहीं लिया। इस संकीर्ण मन वाले की बातों में फँसकर मैं यहाँ तक आ गई। अब भी समय है, क्या करूँ लौट चलूँ वापिस ?"

तभी उसके कानों में हल्के स्वर में गाने की एक आवाज सुनाई दी—

सोच कर ही चलो, विचार कर ही चलो।
गलत कदम मत उठाओ, सोच कर चलो।।
जिंदगी अपने लिए जीते हैं सभी।
दूसरों को सुख नहीं देते कभी।।
जो करे कल्याण, दे सब को हँसी।।
छोड़कर वह मार्ग अपनी उच्चता का मत चलो।
श्रेष्ठ जन की संगति से श्रेष्ठ बनकर ही चलो।।
सोच कर ही चलो, विचार कर ही चलो।।

यह सुनकर फल्गु रोने-रोने को हो आई। भरे हुए कंठ से बोली—"तुम कौन हो भाई ? कहाँ से बोल रहे हो ? तुम सामने क्यों नहीं आते ?"

तभी पास के पेड़ से एक सुंदर श्वेत कबूतर फुदक कर आया और हँसते हुए बोला—"मेरा नाम मयूख है। मुझे गंगा माँ ने भेजा है। तुम बहुत दिनों से उनके पास जाना बंद कर चुकी हो। वे कुछ दिन तो तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहीं, पर फिर भी तुम नहीं पहुँची तो वे परेशान हो उठीं। सोचने लगीं कि तुम्हारे साथ न जाने कौन-सी दुर्घटना घट गई। मुझसे उनकी उदासी देखी न गई। मैंने कहा कि मैं जाता हूँ, तुम्हारा समाचार लेकर आता हूँ। मैं बहुत देर से, बहुत दूर से तुम्हारा पीछा कर रहा था, पर तुम्हें कुछ पता ही न लगा। तुम्हें तो तालाब की ओर बढ़ने से ही फुरसत न थी। तुम भी अब वैसी ही सकीर्ण बनने का विचार कर चुकी हो तो तुमसे कुछ भी कहना-सुनना बेकार है। हाय री तुम्हारी दुर्बुद्धि ! गंगा जैसी महान् विभूति का साथ छोड़कर इस नीच का साथ अच्छा लगा। अच्छा तो अब मैं चलता हूँ। गंगा माँ को संदेश दे दूँ, जिससे कि वे तुम्हारी प्रतीक्षा में बेकार दुःखी-चिंतित तो न हों।"

यह सुनकर फल्गु के आँसू निकल पड़े। धीमे स्वर में तुरंत बोली—"मयूख भाई ! बस-बस अब और अधिक प्रताड़ना न दो। मेरी

आँखें खुल गई हैं। इस संकीर्ण मन वाले के साथ रहकर मेरे विचार भी वैसे ही बन गए थे, पर अब मैंने विवेक पूर्वक विचार कर लिया है। इसके साथ रहकर मैं भी वैसी ही बन जाऊँगी—गंदली और संकीर्ण। नहीं, मैं ऐसा नहीं करूँगी। मैं तो गंगा का ही साथ दूँगी, महान् कार्यों में सहयोग दूँगी। जब मैं बड़े काम कर सकती हूँ, बड़ों को सहयोग दे सकती हूँ तो तनिक-सी स्वार्थ भावना से भरकर छोटे-छोटे कामों में ही क्यों अपना जीवन व्यर्थ कर दूँ। यह तो कोई भी कर सकता है। अपने आपको बड़े कामों में लगाने में ही बड़प्पन है।"

यह सुनकर मयूख प्रसन्नता से भर उठा। उसने झूमकर अपने पंख फड़फड़ाए और नाचते हुए बोला—"अब किया तुमने सही ढंग से विचार। हमारे साथी जो कहते हैं उसे हमें यों ही सच नहीं समझ लेना चाहिए। अच्छी तरह से सोचना-विचारना चाहिए कि उनकी बात कितनी उचित है, कितनी अनुचित है। तभी उसके अनुसार ही काम करना चाहिए।"

फल्गु चुप रही। मयूख की बात ही सच थी। मयूख ने पंख फड़फड़ाए और आकाश में उड़ते हुए बोला—"मैं तो अब चलता हूँ और जल्दी ही जाकर गंगा माँ को तुंम्हारा संदेश देता हूँ। तुम जल्दी से आना।"

फल्गु ने वेग से अपनी लहरें गंगा की ओर बढ़ाना शुरू कर दिया। अब फिर वह कलकल-छलछल करती, खुशी के गीत गाती मुक्त मन से गंगा की ओर तेजी से बढ़ चली। गंगा ने उसे देखते ही आगे बढ़कर अपने से लिपटा लिया और बोली—"बहिन ! मुझे प्रसन्नता है कि तुम सही रास्ते पर आ गई हो। अपने लिए तो सभी जीते हैं, पर जीवन उन्हीं का सार्थक है जो दूसरों का अधिक से अधिक कल्याण करते हैं। संकीर्ण मन वाले इन विचारों में बाधा देते, दूसरों को भी अपने ही जैसा बनाना चाहते हैं, परंतु प्रलोभनों में न फँसना ही महानता का पहला चरण है।"

"तुम ठीक ही कहती हो दीदी !" फल्गु बोली और चल पड़ी गंगा के साथ मिलकर बड़े-बड़े काम करने। दोनों जहाँ भी गईं वहाँ प्यासों को नया जीवन मिला। भूमि अधिक उपजाऊ बनी और खेत लहलहा उठे। जड़-चेतन सभी ने उनका स्वागत-सम्मान किया, जय-जयकार किया। छोटे भी जब बड़ों के साथ मिलकर दूसरों के कल्याण के काम में जुट जाते हैं तो उनकी शक्ति और योग्यताएँ भी बढ़ जाती हैं और बड़प्पन के मार्ग पर चलते हुए महान् और अमर हो जाते हैं।



भारत माँ के चरणों में

आलोक के पिताजी पर्यटन विभाग में अधिकारी थे। एक बार उसके घर पिताजी के कोई मित्र आए। वे पहली बार आगरा आए थे, उनकी खूब आवभगत की गई। पिताजी ने आफिस से छुट्‌टी लेकर उन्हें आगरा और आसपास के दर्शनीय स्थान दिखलाए। उन्हें देखकर वह बहुत प्रसन्न हुए।

पिताजी के वे मित्र बड़े ही हँसमुख और मिलनसार थे। चार-पाँच दिनों में ही आलोक उनसे बड़ा घुल-मिल गया था। वे उसे और उसके दोस्तों को बड़ी मनोरंजक कहानियाँ सुनाते, अच्छी-अच्छी बातें बताते। साँझ होते ही बच्चे उन्हें घेरकर बैठ जाते और पूछते—"चाचाजी ! आज आपने क्या देखा और कैसा लगा ?"

चाचाजी भी देखे हुए स्थान की प्रशंसा कर देते और बच्चे फूले न समाते। वे सोचकर प्रसन्न होते कि हम ऐतिहासिक महत्व की नगरी में रहते हैं। जहाँ अनेक देखने योग्य वस्तुएँ हैं। एक दिन एक बच्ची से न रहा गया। वह पूछ बैठी—"चाचाजी ! हमारे यहाँ तो कितनी सुंदर वस्तुएँ हैं—विश्व का आश्चर्यजनक ताजमहल, फतेहपुर सीकरी, लाल किला, सिकंदरा आदि। बताइए क्या आपके यहाँ भी है कुछ ऐसा सुंदर ?"

तभी दूसरा बच्चा बोल पड़ा—"चाचाजी आप कहाँ रहते हैं ? सुना है आप बड़ी दूर से आए हैं।"

"हाँ ! माँ बता रही थीं कि चाचाजी बहुत दूर से, दक्षिण में भारत माँ के चरणों में बसे कन्याकुमारी से आए हैं।" आलोक ने शीघ्रता से उत्तर दिया।

"ओह कन्याकुमारी से ? मेरे दादा-बाबा एक बार वहाँ तीर्थ-यात्रा के लिए गए थे। दादीजी तो आज भी वहाँ के गुण गाती नहीं थकतीं।" आलोक का मित्र निखिल बोला।

"भाई ! ऐसी भी क्या खास बात है वहाँ पर।" सभी बच्चे एक साथ बोले।

चाचाजी जो अब तक मुस्कराते हुए बच्चों की बातें सुन रहे थे, बोले—"हाँ ! वहाँ कुछ ऐसी ही विशेषताएँ हैं। एक बार जो उस स्थान को देख लेता है, भूल नहीं पाता। ध्यान से सुनो बच्चो ! आज तुम्हें यहाँ बैठे कन्याकुमारी की सैर कराता हूँ। यह स्थान पौराणिक, ऐतिहासिक, कलात्मक सभी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।"

ऋचा बीच में ही बोली—"इस स्थान का नाम कन्याकुमारी क्यों पड़ा ?"

"यहाँ पर कन्याकुमारी का, भगवती आद्यशक्ति का बड़ा प्राचीन मंदिर है। इसी के नाम पर इस स्थान का नाम भी कन्याकुमारी पड़ा। जैसे वाराणसी में शिव मंदिर प्रसिद्ध है, वैसे ही कन्याकुमारी में शक्ति का। इस मंदिर के विषय में अनेक कथाएँ हमें पुराणों में मिलती हैं।" चाचाजी ने बताया।

"चाचाजी हमें इस प्रसिद्ध मंदिर के विषय में बतलाइए ?" बच्चे उत्सुकता से बोले।

चाचाजी कहने लगे—"समुद्र तट के पास एक विशाल स्थान में देवी कन्याकुमारी का सुंदर मंदिर है। सुंदर वस्त्रों से सजी, अनेक अमूल्य आभूषणों से अलंकृत, चंदन से सुगंधित मुस्कराती हुई भगवती की सजीव प्रतिमा हृदय में सहसा ही श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करती है।"

"और साथ ही पास बहने वाला समुद्र भी वातावरण को भव्य बनाता होगा।" आलोक बोला।

"हाँ ! कन्याकुमारी में तीन ओर समुद्र है। बाएँ बंगाल की खाड़ी, सामने हिंद महासागर तथा दाहिने अरब सागर। देवी के मंदिर का पूर्वी फाटक जो बंगाल की ओर है, वर्ष में केवल चार-पाँच बार

खुलता है। देवी की नाक में पहिनाए गए अमूल्य हीरे की चमक के कारण दूर से आने वाले नाविकों की आँखों को चौंध लगती थी, जिससे दुर्घटनाएँ हो जाती थीं, इसलिए यह फाटक बंद रहता है।'' चाचाजी ने कहा।

''चाचाजी ! कन्याकुमारी में जो स्मारक है उनके विषय में भी तो आप कुछ बता रहे थे। मैं तो उस दिन सो ही गया था। इसलिए कृपया आज हमें विस्तार से उनके विषय में बतलाइए ?'' आलोक बोला।

चाचाजी इस प्रश्न से बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे—''बच्चो ! इसकी जानकारी तो तुम्हें जरूर ही होनी चाहिए। कन्याकुमारी में भारत की दो महान् आत्माओं के स्मारक हैं—महात्मा गाँधी और विवेकानंद। १९५६ में महात्मा गाँधी का सुंदर स्मारक बनवाया गया था। इसके विषय में एक बात जानने योग्य यह है कि महात्मा गाँधी की मूर्ति के ऊपर की छत इस प्रकार से बनाई गई है कि दो अक्टूबर की दोपहर को सूरज की चमकती किरणें ऊपर से सीधी बापूजी की प्रतिमा पर पड़ती हैं। उस समय तो वह प्रतिमा बड़ी ही भव्य लगती है।''

''ओह ! यह तो शिल्पकला का बड़ा ही सुंदर उदाहरण है।'' आलोक बोला।

इसके बाद चाचाजी विवेकानंद के स्मारक के विषय में भी बतलाते हुए बोले—''बच्चो ! भारत के महान् संत विवेकानंद के नाम से तो तुम परिचित ही होंगे। जब पाश्चात्य जगत में भारतीय धर्म और दर्शन के प्रति अनास्था भरा प्रचार कर रहा था तब ही विवेकानंद ने एक बार फिर से सारे विश्व में हिंदू धर्म और दर्शन की उत्कृष्टता सिद्ध की थी। विवेकानंद के संन्यासी होने के बाद की घटना है। १८९२ में वे भ्रमण करते हुए कन्याकुमारी आए थे। उस समय तक उनके मन में अनेक शंकाएँ थीं। यहाँ आकर उनका चिंतन-मनन और बढ़ गया। १५ दिसंबर की संध्या को विचारों में डूबे वे समुद्र में तैरते हुए तट से लगभग १४०० फीट दूर एक चट्टान पर

जाकर बैठ गए। तीनों सागरों के संगम-स्थल पर स्थित उस चट्टान पर बैठकर विवेकानंद ध्यान-मग्न हो गए। वे तीन दिन और तीन रात तक लगातार ध्यान करते रहे। यहीं उनके मन को स्थिरता, शांति और नवीन बोध मिला। जैसे बुद्ध का चिंतन स्थल बोध-वृक्ष अमर हो गया वैसे ही विवेकानंद की यह ध्यान-स्थली भी अमर हो गई। यहीं उन्होंने मानव मात्र के लिए अपना जीवन अर्पित करने का, हिंदू धर्म की उत्कृष्टता से विश्व को परिचित कराने का संकल्प लिया था। इसी घटना को अमर बनाने के लिए इस पवित्र चट्टान पर विवेकानंद स्मारक बनाया गया है। यह चट्टान समुद्र से लगभग ५५ फुट ऊँची है तथा तीन एकड़ तक फैली है। स्मारक का संपूर्ण भवन बहुत ही सुंदर और प्रभावशाली शैली में बनाया गया है। यहाँ पर स्थापित स्वामी विवेकानंद की ८ फीट ऊँची काँसे की परिव्राजक मुद्रा में बनी भव्य प्रतिमा को देखकर मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। लगता है कि शक्ति, भक्ति, आत्म-विश्वास और क्रियाशीलता साकार हो गयी है।"

"यह स्मारक कब बनाया गया था ?" निखिल मानो सपने से जागकर पूछने लगा।

"२ सितंबर १९७० को इस स्मारक का राष्ट्रपति ने उद्‌घाटन किया था।" चाचाजी ने बतलाया।

सारे बच्चे चाचाजी की बातें सुनकर मानो अपनी कल्पना में ही उसे देखने लगे थे। तभी आलोक की माँ वहाँ आई और बोलीं—"अरे बच्चो ! रात के नौ बजने जा रहे हैं, अब अपने-अपने घर जाओ जिससे सुबह नियमित समय उठकर अपनी पढ़ाई कर सको।"

"ओह ! इतना समय बीत गया। हमें तो पता ही न लगा।" कहते हुए सब बच्चे उठ गए।

चलते समय वे आपस में कहते जा रहे थे—"जब हम बड़े हो जाएँगे तो जरूर कन्याकुमारी जाएँगे।"



परिवर्तन

मुदित के मामाजी आगरा में रहते थे। एक बार गर्मियों की छुट्टी में वे उसे भी अपने साथ आगरा ले गए। मामाजी वहाँ पर डाक्टर थे, वे सारे दिन अपने कार्य में जुटे रहते थे। कभी किसी मरीज को देखने जाते तो कभी किसी को। उनके अस्पताल में भी रोगियों की भीड़ लगी ही रहती थी।

मुदित घर पर मामी के पास रहता था। मामी का भी एक लड़का था, जिसका नाम रंजीत था। मुदित बड़ा ही ऊधमी था। खाली तो वह एक भी पल बैठ ही न सकता था। कभी कोई काम बिगाड़ता तो कभी कोई काम करता। वह हर काम में हाथ डालने की कोशिश करता। मामी रसोई में जरा देर से जाती तो वह आँख बचाकर रसोई में पहुँच जाता। वहाँ कभी रोटी बेलता तो कभी गैस जलाता। मामी के आते ही वह तेजी से भाग जाता। कभी मुदित किसी चूहे की पूँछ पकड़ लेता और घर में उसे नचाता फिरता। मामी डाँटती—"मुदित ! किसी प्राणी को सताना अच्छी बात नहीं है। तुम दूसरों को सताओगे तो भगवान तुम्हें भी दंड देंगे।" वह मुदित के पीछे-पीछे दौड़ती, पर मुदित अपने मन की ही करता रहता था। मुदित के साथ रहकर रंजीत भी बहुत शरारती होता जा रहा था।

एक दिन मुदित की माँ का एक पत्र आया कि उसके पिताजी आगरा आ रहे हैं। वे अपने साथ मुदित को भी लेते आएँगे। इसीलिए वह धौलपुर वापिस आने की तैयारी कर ले।

मुदित ने अभी तक आगरा पूरी तरह नहीं देखा था। मामाजी ने कार्यक्रम बनाया कि शुक्रवार को सभी ताजमहल और लालकिला देखने चलेंगे। क्योंकि शुक्रवार को टिकिट नहीं लगती। उस दिन रविवार था, मामाजी की छुट्टी थी। वे मुदित और रंजीत को घुमाने ले गए और कई सुंदर-सुंदर जगह दिखाईं।

मुदित की शरारतें धीरे-धीरे बढ़ती ही जा रही थीं। अब वह अपने घर चला ही जाएगा—यह सोचकर उसकी मामी उससे कुछ नहीं कहती थीं। दूसरे दिन शाम की बात है। मुदित सभी की आँख बचाकर छत पर चढ़ गया। आज वह मामी से छिपकर पतग और डोर लाया था। उसकी मामी छत पर चढ़ने को, पतंग उड़ाने को सदैव मना किया करती थी। मुदित सोचता था कि मामी को कहने दो, वे तो हर बात में टोका ही करती हैं।

उसकी मामी को पता लगा कि मुदित छत पर चढ़ गया है तो उन्होंने नीचे से ही आवाज लगायी। "अभी आ रहा हूँ" कहकर मुदित फिर से पतंग उड़ाने में लग गया। मामी रसोईघर में खाना बनाने चली गई।

मुदित खूब देर तक पतंग उड़ाता रहा। पतंग के लिए कभी वह छत पर दौड़ता तो कभी मुंडेर पर चढ़ता। उसे ठीक से पतंग उड़ानी तो आती नहीं थी इसलिए बार-बार वह इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहा था।

सहसा ही एक पतंग कटकर मुदित की छत की ओर आई। मुदित ने अपनी डोर पास खड़े रंजीत को थमाई और पतंग की ओर लपका। जैसे ही मुदित मुंडेर पर चढ़ा उसका पैर फिसल गया। वह धड़ाम से आँगन में आ गिरा।

धमाके की आवाज सुनकर मामी रसोई से निकलीं। मुदित जमीन पर पड़ा कराह रहा था। मामी ने उसे जल्दी से दौड़कर उठाया। मुदित जोर-जोर से रो रहा था। मामी ने तुरंत मुदित के मामाजी को फोन किया। वे जल्दी से घर आए।

मामाजी ने जाँच की कि गिरने की वजह से मुदित की हड्डी टूट गई है। अतएव उन्होंने डेढ़ महीने तक के लिए मुदित के पैर पर प्लास्टर बाँध दिया।

अब मुदित चल-फिर नहीं पाता। सारे दिन चारपाई पर चुपचाप पड़ा रहता है। वह यही सोचता रहता है कि यदि मैं मामी की बात मान लेता, पतंग नहीं उड़ाता तो मेरी हड्डी नहीं टूटती। बड़ों का

कहना न मानने के कारण ही मुझे यह फल भुगतना पड़ा है। मुदित फिर न ताजमहल देखने जा पाया और न लालकिला।

मुदित की मामी ने उसके लिए अच्छी-अच्छी बहुत-सी पुस्तकें मँगवा दी हैं। वह बिस्तर पर लेटा-लेटा उन्हें पढ़ता है। पुस्तकों से मुदित को अच्छा बनने की बहुत प्रेरणा मिली है। अब वह बात-बात में जिद नहीं करता, बड़ों का कहना मानता है। किसी को सताता नहीं है, दूसरों की सहायता करता है।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा